78
सितंबर-अक्टूबर, 2018

पुस्तक-वार्ता

ISSN 2349-1809

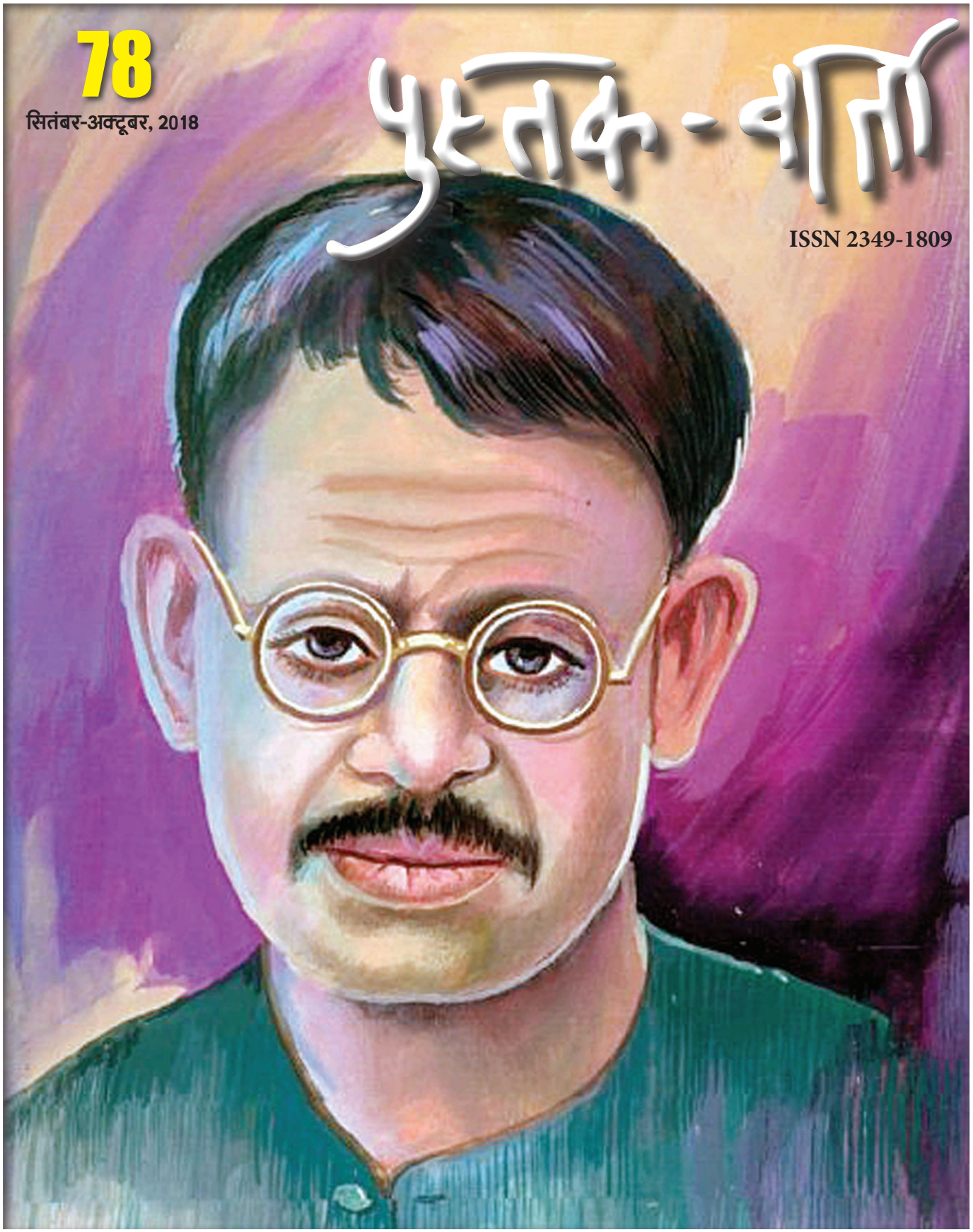

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

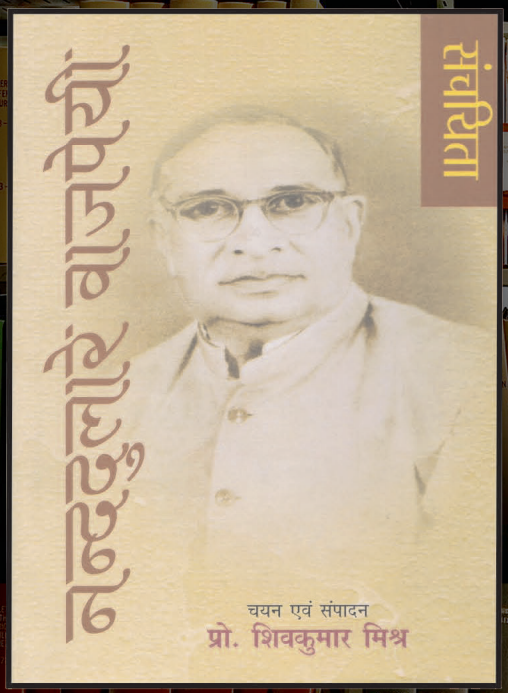

मूल्य : 1500

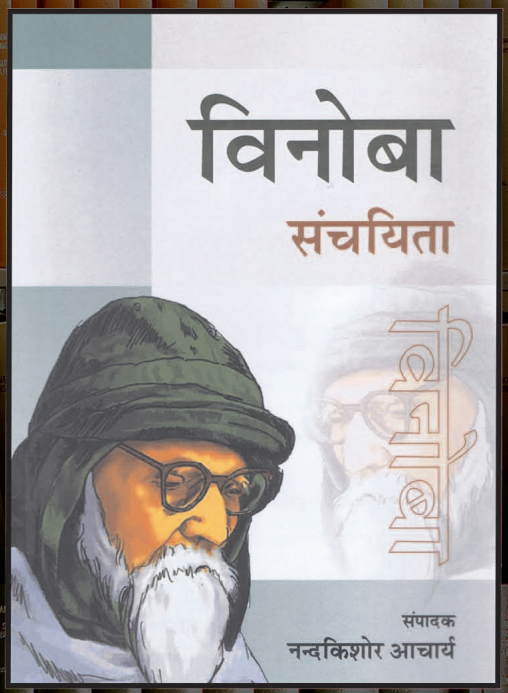

मूल्य : 900

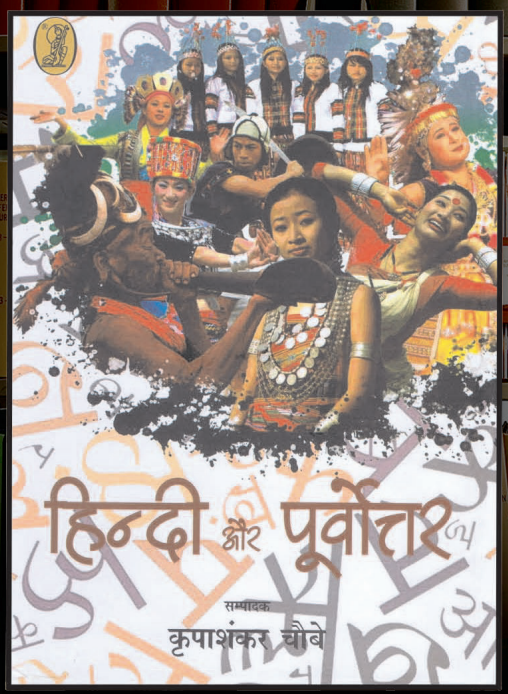

मूल्य : 495

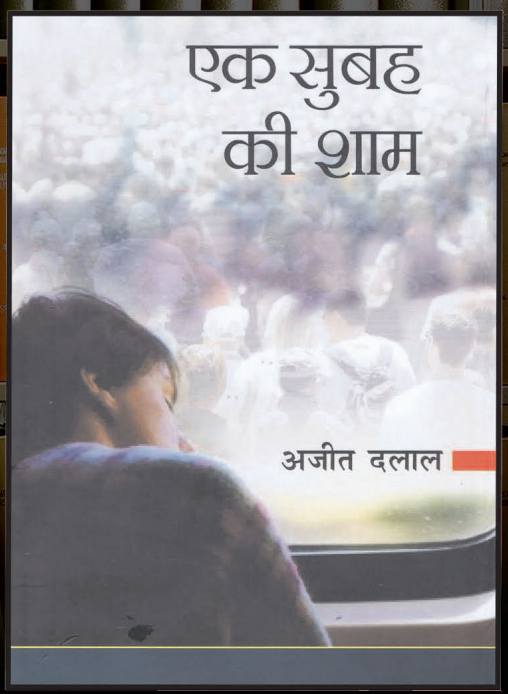

मूल्य : 225

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र),

पुस्तक-वार्ता

ISSN 2349-1809

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

अंक: 78 सितंबर-अक्टूबर, 2018

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र (कुलपति)

संपादक
अशोक मिश्र

सह-संपादक
अमित कुमार विश्वास

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संपादकीय संपर्क
संपादक: पुस्तक-वार्ता
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र),
मो. संपा. 7888048765, सह-संपा. 9970244359
ई-मेल: amitbishwas2004@gmail.com

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक: ₹ 50/-
वार्षिक सदस्यता:
₹ 300/- (व्यक्तिगत),
₹ 370/- (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)
(नोट: केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगे। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें-
राजेश यादव, प्रकाशन प्रभारी, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट: हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र), फोन: 07152-232943

PUSTAK-VARTA

A Bimonthly journal of Bool Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post - Hindi Vishwavidyalaya, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

डिजाइन
ज्योत्स्ना पलसुलेदेसाई

मुद्रण : क्विक ऑफसेट, दिल्ली - 110032

इस बार

योद्धा पत्रकार विद्यार्थीजी

मनुष्य के स्वभाव और उसके चरित्र के गणेशशंकर विद्यार्थी पारखी थे। उनके भीतर आत्मआलोचना का भी गजब का साहस था। वे पत्रकार होते हुए भी देश के सच्चे जनप्रतिनिधि बनकर उभरे और उन्होंने देश को दिशा और नेतृत्व प्रदान किया। सांप्रदायिकता की आग को बुझाने के बड़े काम के लिए अपने जीवन की आहुति देकर वे पत्रकारों के लिए जिस आदर्श की स्थापना कर गए, उसकी मिसाल अन्यत्र नहीं मिलती। वे जिस रास्ते पर चले, उस पर उनके पैरों के निशान आज भी बाकी हैं।

गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता/ सुधीर विद्यार्थी 06
'कश्मीरनामा' इतिहास भी है और साहित्य भी / शेष नारायण सिंह 11
हिंदी आलोचना का अपना ठाठ/ श्रीभगवान सिंह 15
दुविधाग्रस्त स्त्री की नियति/ सत्यकाम 18
शब्द-शब्द नि:शब्द का आख्यान/ आनंद भारती 20
समय में हस्तक्षेप की कविताएं/ कृष्ण प्रताप सिंह 23
'विज्ञापन और ब्रांड': एक जरूरी ग्रंथ/ अरुण कुमार भगत 26
बदलाव की आकांक्षा में नींद नहीं आती/ हरीश कुमार 28
सामयिक विद्रूपताओं का आईना/ अंकित नरवाल 30
शैक्षिक समावेशी समाज से बेदखल 'गूदड़ बस्ती'/ कौशलेंद्र प्रपन्न 33
नफरत के खिलाफ एक अघोषित युद्ध का कवि/ कमलेश कुमार यादव 35
कविताएं नहीं, चिंताएं.../ निशांत 37
जेलों में बंद कैदियों की दास्तान/ प्रीति प्रकाश प्रजापति 39
व्यंग्यबोध की कहानियों में आज का मध्यवर्गीय समाज/ नीरज खरे 42
फिल्मों को देखने की कलात्मक परख/ अजय कुमार शर्मा 45
यथार्थ की काया/ राजीव सक्सेना 47
नव माध्यम को समझने की दृष्टि/ प्रदीप सौरभ 50
संक्रमण के दौर में नए मुहावरों का पता देती कहानियां/ निवेदिता 53
एक लोकगीत यात्रा/ अंकित दुबे 55
'रचना समय' की मार्खेज पर महत्वपूर्ण प्रस्तुति/ अशोक नाथ त्रिपाठी 57

आवरण पृष्ठ: गणेशशंकर विद्यार्थी

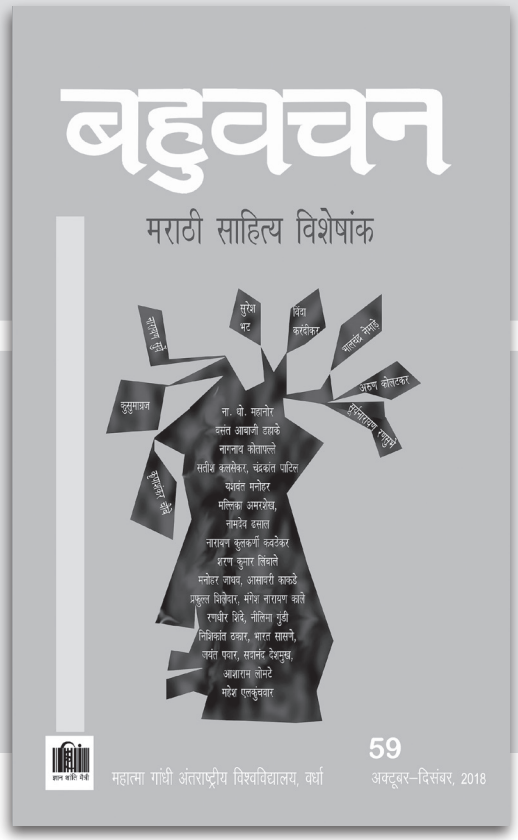

बहुवचन : मराठी साहित्य विशेषांक

अंक के रचनाकार

विरासत	:	कुसुमाग्रज, विंदा करंदीकर, नारायण सुर्वे, दिलीप चित्रे आदि
विशेष	:	भालचंद्र नेमाडे
साक्षात्कार	:	वसंत आबाजी डहाके, नागनाथ कोतापल्ले
लेख	:	सूर्यनारायण रणसुभे, निशिकांत ठकार, रणधीर शिंदे, कृपाशंकर चौबे, आशुतोष पोद्दार, रामचंद्र कालुंखे, संजय आर्वीकर, हृषीकेश आर्वीकर, रवींद्र किबदुने, भानु काले, नीलिमा गुंडी, संदीप सपकाले आदि
कहानियां	:	भारत ससाणे, सदानंद देशमुख, आसाराम लोमटे, मेघना पेठे, मोनिका गजेंद्रगड़कर, मधुकर धर्मापुरीकर, प्रतिभा जोशी आदि।
नाटक	:	महेश एलकुंचवार
कविताएं	:	ना.धों. महानोर, यशवंत मनोहर, वसंत आबाजी डहाके, प्रभा गाणेरकर, चंद्रकांत पाटील, नारायण कुलकर्णी, सतीश कालसेकर, श्रीकांत देशमुख, मल्लिका अमरशेख, मनोहर जाधव, शरण कुमार लिंबाले, अशोक कोतवाल, अरुण काले, अनुराधा पाटील, गणेश विसपुते, दासू वैद्य, सायमन मार्टिन, प्रफुल्ल शिलेदार, आसावरी काकड़े, नागनाथ मंजुले, विजय चोरमारे, मंगेश नारायण काले, मनोज बोरगांवकर, बाजाजी महदन इंगले, अनिल साबले, बालाजी सुतार, सारिका उबाले, लोकनाथ यशवंत, शशिकांत हिंगोनेकर, अरुण शंवते, संजीवनी तलेगांवकर आदि। साथ ही, अन्य विविध सामग्री।
अतिथि संपादक	:	दामोदर खड़से

योद्धा पत्रकार विद्यार्थीजी

गणेशशंकर विद्यार्थी का नाम स्मरण में आते ही आजादी की लड़ाई लड़ने वाले एक ऐसे योद्धा पत्रकार की छवि सामने आती है जिन्होंने अपना पूरा जीवन पत्रकारिता को समर्पित कर दिया था। उनका जन्म प्रयाग में 26 अक्टूबर 1890 को इलाहाबाद के एक सामान्य परिवार में हुआ था। उनकी आरंभिक शिक्षा इलाहाबाद और कानपुर में हुई। विद्यार्थीजी का पत्रकारिता के प्रति झुकाव मुख्यतः सरस्वती पत्रिका के संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपर्क में आने के बाद हुआ। आचार्य द्विवेदी ने उनको सहायक संपादक के रूप में साथ में काम करने का मौका दिया। उन्होंने यहीं द्विवेदीजी के साथ सहयोगी के रूप में पत्रकारिता के मूलभूत सिद्धांत सीखे जो कि आगे चलकर उनके जीवन का लक्ष्य बन गए। अंग्रेजी हुकूमत की दमनकारी नीतियों के खिलाफ गणेशशंकर विद्यार्थी ने खूब लिखा जिसे पढ़कर उस समय आजादी की लड़ाई लड़ रहे देशवासियों का मनोबल बढ़ता रहा। वे अपने नाम के आगे विद्यार्थी इसलिए जोड़ते थे क्योंकि उनका मानना था कि मनुष्य जिंदगी भर सीखता रहता है। उनके व्यक्तित्व के कई रूप थे। एक ओर जहां वे निडर स्वतंत्रता सेनानी थे तो दूसरी ओर निष्पक्ष पत्रकार, समाज-सेवी और कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। भारत के 'स्वाधीनता संग्राम' में उनका महत्वपूर्ण योगदान आज भी स्मरण किया जाता है। कलम की ताकत हमेशा से ही तलवार से अधिक प्रभावशाली रही है और ऐसे कई पत्रकार रहे हैं जिन्होंने अपनी कलम से सत्ता की चूलें हिलाकर रख दीं। गणेशशंकर विद्यार्थी भी ऐसे ही एक पत्रकार थे जिन्होंने अपनी कलम और अखबार की ताकत से अंग्रेजी शासन की नींव हिला दी थी। पत्रकारिता के प्रति अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा था -'किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेगी। सत्य और न्याय हमारे भीतरी पथ प्रदर्शक होंगे। सांप्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से 'प्रताप' सदा अलग रहने की कोशिश करेगा। उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन-पोषण, रक्षण या विरोध के लिए नहीं हुआ है, किंतु उसका मत स्वातंत्र्य विचार और उसका धर्म सत्य होगा।

हम जानते हैं कि हमें इस काम में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और इसके लिए बड़े भारी साहस और आत्मबल की आवश्यकता है। हमें यह भी अच्छी तरह मालूम है कि हमारा जन्म निर्बलता, पराधीनता और अल्प सत्ता के वायुमंडल में हुआ है तो भी हमारे हृदय में सत्य की सेवा करने के लिए आगे बढ़ने की इच्छा है।'

गणेशशंकर विद्यार्थी मानते और कहते थे कि समाज का हर नागरिक एक पत्रकार है इसलिए उसे अपने नैतिक दायित्वों का निर्वाहन सदैव करना चाहिए। गणेशशंकर विद्यार्थी पत्रकारिता को एक मिशन मानते थे जिसका पालन उन्होंने आजीवन किया। अपने जीवनकाल में वे 'प्रभा', 'सरस्वती', 'अभ्युदय', 'स्वराज्य' जैसे पत्रों के संपादन से संबद्ध रहे। 5 नवंबर 1913 को उन्होंने कानपुर से 'प्रताप' साप्ताहिक का प्रकाशन शुरू किया। 'प्रताप' के जन्म लेने पर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आशीर्वाद स्वरूप दो पंक्तियां विद्यार्थीजी को भेजी थीं। यही पंक्तियां आगे चलकर 'प्रताप' की मुख वाणी बनीं: जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है

वह नर नहीं, नर पशु निरा है, और मृतक समान है।

तमाम आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद वे 'प्रताप' का प्रकाशन करते रहे। 'प्रताप' के माध्यम से उनकी कलम जहां एक ओर अंग्रेजी साम्राज्यवाद से लोहा लेती रही वहीं देशवासियों के भीतर आजादी की भावना का प्रसार करती रही। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने अपना सारा जीवन साहित्य, राजनीति और पत्रकारिता के लिए समर्पित कर दिया था। 25 मार्च 1931 को कानपुर में हुए सांप्रदायिक दंगे में पीड़ितों को बचाने के दौरान गणेशशंकर विद्यार्थी शहीद हो गए। हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में उनका नाम आज भी बड़े सम्मान से लिया जाता है।

पुस्तक वार्ता के इस अंक में गणेशशंकर विद्यार्थी पर सुधीर विद्यार्थी का लेख प्रकाशित किया जा रहा है जिससे हमारे पाठकों को उनके व्यक्तित्व के बारे में सम्यक जानकारी मिल सके। अंक में पहले के अंकों की तरह कविता, कहानी, आलोचना और अन्य सामाजिक विमर्शों से संबंधित पुस्तकों की मूल्यांकनपरक समीक्षाएं दी जा रही हैं। 'पुस्तक-वार्ता' का उद्देश्य ही हिंदी में प्रकाशित हो रही नई पुस्तकों का समुचित मूल्यांकन और पाठकों तक उसकी जानकारी को पहुंचाना है। यह अंक कैसा लगा, यह पत्र लिखकर, एसएमएस संदेश से या ई-मेल भेजकर अवगत कराएं। आपके सुझावों व प्रतिक्रियाओं का इंतजार रहेगा।

अशोक मिश्र

स्मरण

गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता

सुधीर विद्यार्थी

साहित्यकार

संपर्क :
6 पवन विहार, फेज-5
विस्तार, पो. रूहेलखंड,
विश्वविद्यालय,
बरेली-243006 (उ.प्र.)
मो. 8439077677

गणेशशंकर विद्यार्थी की जेल डायरी के प्रकाशन पर डॉ. मधुलेखा विद्यार्थी ने अपनी आपत्ति व्यक्त करते हुए कहा कि संपादक ने इसमें संशोधन करके इसका मूल स्वरूप ही नष्ट कर दिया है। उनका विरोध था कि विशेष तौर पर विद्यार्थीजी की भाषा में हेर-फेर करके उसकी प्रामाणिकता के बारे में ध्यान न दिए जाने से इस डायरी को बहुत नुकसान पहुंचा है। कतिपय तथ्यात्मक त्रुटियों की ओर भी उनका संकेत था। बावजूद इसके स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास की इस अमूल्य निधि के प्रकाशन को तत्कालीन समय के दस्तावेजों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। गणेशशंकरजी की यह जेल डायरी एक पत्रकार और आजादी की लड़ाई लड़ रहे एक सैनिक की आत्माभिव्यक्ति है जिसे उन्होंने 31 जनवरी 1922 से 17 मई 1922 की अवधि में लखनऊ जेल में रहते हुए लिपिबद्ध किया था। वह गांधी के असहयोग का जमाना था। तब उस आंदोलन के अनेक सैनिकों ने बड़ी संख्या में जेलों की यात्राएं कीं। गणेशशंकरजी को स्वयं इस आंदोलन में जेल पहुंचकर असहयोगियों से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ और वे गहराई से उन जिंदगियों के आर-पार देख पाए जो गांधी की फौज के सिपाही बनकर स्वतंत्रता का जयघोष कर रहे थे। तत्कालीन वातावरण और स्वतंत्रता जैसी बड़ी लड़ाई में संलिप्त उन स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों की आस्थाओं और प्रतिबद्धताओं को चीह्नने और उसे व्यक्त करने में उनसे कोई चूक नहीं हुई। मनुष्य के स्वभाव और उसके चरित्र के वे पारखी थे। कह सकता हूं कि उनके भीतर आत्मआलोचना का भी गजब का साहस था। यह कम बड़ी बात नहीं है कि अपनी जेल डायरी को शब्द देते समय वे उस समय के वातावरण और तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक सच्चाइयों को ब्योरेवार देखते-परखते चलते हैं। साथ ही हमें यह भी पता चलता है कि इसी देश में कभी गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार तपती जमीन पर बैठकर अपनी जिम्मेदारी को बखूबी निभाते रहे। वह युग व्यावसायिक पत्रकारिता का नहीं था। लोग मिशनरी ढंग से इस क्षेत्र में काम करने आते थे और उल्लेखनीय बात यह होती थी कि उन्हें बंद कमरों में नहीं, बल्कि जनता के बीच जाकर अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन करना पड़ता था। शायद इसी के चलते वे पत्रकार होते हुए भी देश के सच्चे जनप्रतिनिधि बनकर उभरे और उन्होंने देश को दिशा और नेतृत्व प्रदान किया। सांप्रदायिकता की आग को बुझाने के बड़े काम के लिए अपने जीवन की आहुति देकर वे पत्रकारों के लिए जिस आदर्श की स्थापना कर गए, उसकी मिसाल अन्यत्र नहीं मिलती। वे जिस रास्ते पर चले, उस पर उनके पैरों के निशान आज भी बाकी हैं। उनकी यह जेल डायरी इस बात का बड़ा साक्ष्य है कि किसी प्रतिबद्ध पत्रकार की अपने देश और समाज के सवालों पर क्या भूमिका हो सकती है। उनकी रिहाई के पश्चात 'प्रताप' में 1922 की इस जेल डायरी का धारावाहिक प्रकाशन भी हुआ और बाद में इसे सूचना विभाग उत्तर प्रदेश ने भी छापा था।

'प्रताप' साप्ताहिक का प्रकाशन गणेशशंकरजी नवंबर 1913 में ही कर चुके थे। पर इससे पहले ही वे पत्रकारिता की दुनिया में प्रवेश कर चुके थे। 1907 से ही 'कर्मयोगी', 'अभ्युदय', 'सरस्वती' और 'स्वराज्य' जैसे पत्रों में उनके प्रारंभिक लेखन को तलाशा जा सकता है। इनके जरिए गणेशशंकर देश की स्वतंत्रता के सवालों से ही रूबरू थे। मुक्ति-युद्ध के उन दिनों में अपनी कलम के माध्यम से वे लोगों को जिस चेतना से जोड़ने की मुहिम चला रहे थे, उसकी शिनाख्त के लिए उसका पुनर्पाठ मुझे जरूरी लगता है। अपनी इस खूबी और समर्पण के चलते 1910 में ही वे 'अभ्युदय' के सहायक संपादक नियुक्त किए गए।

'प्रताप' का प्रकाशन जब शुरू हुआ तब से ही यह पत्र मुक्ति-संग्राम की गांधीवादी और क्रांतिकारी धारा को एक साथ ले कर चल रहा था। बहुत कम पूंजी से उन्होंने यह अखबार चलाया। इसमें वे संपादकीय लिखने से लेकर प्रूफ देखने, पते लिखने और डाक में डालने जैसे काम स्वयं किया करते थे। इसमें उनके सहयोगी थे शिवनारायण मिश्र। अपनी निर्भीकता, अभिव्यक्ति की क्षमता और स्पष्ट जनपक्षधर नीतियों पर चलने के कारण 'प्रताप' को ब्रिटिश सरकार का अनेक बार कोपभाजन बनना पड़ा। पर इस अखबार के जरिए जनता की क्रांतिकारी चेतना को पैना रखने का बड़ा दायित्व उन्होंने संभाल लिया था। उनकी क्रांतिकारी दृष्टि जहां विदेशी सत्ता की उत्पीड़नात्मक कार्यवाहियों पर थी, वहीं वे देश के किसानों और मजदूरों की स्थितियों को निरंतर लक्ष्य करके उनके साथ मजबूती से खड़े दिखाई पड़ रहे थे। 'प्रताप' के अग्रलेखों और उसमें छपने वाली सामग्री को देखकर अनुमान होता है कि विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अत्यंत कठिन संघर्ष के

मनुष्य के स्वभाव और उसके चरित्र के गणेशशंकर विद्यार्थी पारखी थे। कह सकता हूं कि उनके भीतर आत्मआलोचना का भी गजब का साहस था। वे पत्रकार होते हुए भी देश के सच्चे जनप्रतिनिधि बन कर उभरे और उन्होंने देश को दिशा और नेतृत्व प्रदान किया। सांप्रदायिकता की आग को बुझाने के बड़े काम के लिए अपने जीवन की आहुति देकर वे पत्रकारों के लिए जिस आदर्श की स्थापना कर गए, उसकी मिसाल अन्यत्र नहीं मिलती। वे जिस रास्ते पर चले, उस पर उनके पैरों के निशान आज भी बाकी हैं।

उस दौर में भी वे जनता के सवालों को गहरे से छू-मथ रहे थे। माना जा सकता है कि 'प्रताप' का अपने पाठकों से बहुत अनोखे ढंग का संवाद था। यही कारण था कि उस दौर में वह जनता के बीच सर्वाधिक चहेता समाचार पत्र बन गया था। 'प्रताप' की ऐतिहासिक भूमिका का मूल्यांकन इन तथ्यों को सामने रखे बिना किसी तरह संभव नहीं है।

'प्रताप' की आर्थिक कठिनाइयां झेलते और उसमें कड़ी मेहनत करते हुए गणेशशंकरजी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था। एक संपादक के नाते उनका एक पैर हमेशा जेल में रहा। स्वाधीनता के बड़े लक्ष्य और पत्रकारिता के उच्च आदर्शों की स्थापना के लिए वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने में कभी पीछे नहीं हटे और ब्रिटिश साम्राज्यशाही से कभी समझौता नहीं किया। 'प्रताप' उनके लिए अखबारनवीसी नहीं, बल्कि राष्ट्रीय जनजागरण का अभियान था। स्वाधीनता के संघर्ष के साथ ही सामंतवाद और कुली प्रथा के विरोध में लिखते हुए उन्होंने जनता की लड़ाई का मोर्चा तय कर लिया था। उनकी कलम के बल पर ही सोलह पृष्ठों के इस साप्ताहिक की पृष्ठ संख्या बढ़कर चालीस तक पहुंच गई थी। उस समय 'प्रताप' का मूल्य दो रुपये प्रति था और वह देश के दूरदराज इलाकों तक पहुंचता था। कहा जाता है कि सुदूर पहाड़ों में इस अखबार को पढ़ने-सुनने के लिए लोग डाकखानों पर श्रद्धालुओं की तरह जमा हो जाते थे। इसका एक कारण यह भी था कि गणेशशंकरजी अपने पाठकों का बहुत ध्यान रखते थे। यहां तक कि 'प्रताप' में विज्ञापनों का प्रकाशन भी वे बहुत सोच-समझ कर किया करते थे। साथ ही वे ऐसे विज्ञापन भी न देते थे जिनमें लोग झूठी बातें कहकर जनता को ठगने का षड्यंत्र करते थे। वे जिस विज्ञापनदाता के संबंध में शिकायत सुनते उसकी सच्चाई की जांच करते और यदि वास्तव में वह विज्ञापनदाता छद्म साबित होता तो उसी समय बिना किसी बात की चिंता किए हुए कि उससे 'प्रताप' को कितनी आर्थिक हानि उठानी होगी, वे उनका विज्ञापन छापना बंद कर देते थे। 'प्रताप' से जनता की सेवा ही हो, उससे किसी पाठक का कोई नुकसान न हो इस बात का वे बहुत ध्यान रखते थे। 'प्रताप' में जो सामग्री दी जाती थी, उसकी कसौटी यही थी। अश्लील बातों से भरे विज्ञापनों के लिए वहां कोई स्थान न था। जिस तरह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पाठकों के प्रति इतने संवेदनशील थे कि वे अपने लेख अपनी कम पढ़ी-लिखी पत्नी के समझ लेने पर ही छपने देते थे, उसी तरह गणेशशंकरजी की भी दृष्टि कलम चलाते समय आम पाठक पर टिकी रहती थी। गणेशशंकरजी के जीवनकार देवव्रत शास्त्री ने लिखा है - 'वह इस बात का बहुत ख्याल रखते

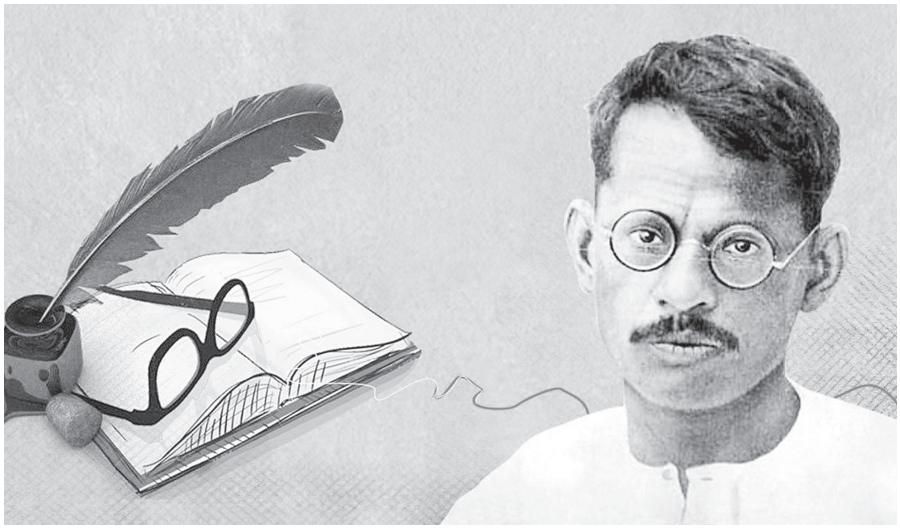

'प्रताप' की आर्थिक कठिनाइयां झेलते और उसमें कड़ी मेहनत करते हुए गणेशशंकरजी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था। एक संपादक के नाते उनका एक पैर हमेशा जेल में रहा। स्वाधीनता के बड़े लक्ष्य और पत्रकारिता के उच्च आदर्शों की स्थापना के लिए वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने में कभी पीछे नहीं हटे और ब्रिटिश साम्राज्यशाही से कभी समझौता नहीं किया।

थे कि 'प्रताप' में कोई ऐसी चीज न प्रकाशित हो जिसे पाठक अच्छी तरह समझ ही न पाए और जिससे उनकी रुचि बिगड़ती हो। कई दफे ऐसा मौका आया कि हम लोग लेख और कविताएं, खासकर कविताएं संपादित करके उनके पास ले गए पर कंपोज होने के लिए देने से पहले प्रायः सब मैटर वह एक बार देख लेते थे और उन्होंने उनमें जिसे क्लिष्ट देखा, छपने से रोक लिया। एक दफे हमारे एक सहकारी मित्र ने एक कविता प्रकाशनार्थ देनी चाही। नियमानुसार विद्यार्थीजी ने सब मैटर के साथ उस कविता को देखा। उन्होंने उस कविता का अर्थ उन महाशय को पूछा। वह कुछ संतोषजनक अर्थ बता न सके। उन्होंने उसे निकालकर उसकी जगह दूसरी कविता देने को कहा। भाई बालकृष्णजी को उस कविता का अर्थ मालूम था। कविता वास्तव में थी भी अच्छी, अतः उन्होंने उसे देने पर जोर दिया। विद्यार्थीजी ने उत्तर दिया - 'भाई जिस कविता को हम लोग नहीं समझते, उसको हमारे अधिकांश पाठक नहीं समझ सकते। ऐसी कविता अच्छी होने पर भी हमारे किस मतलब की।'

'तहकीकात कर चुकने के बाद वह सत्य और न्यायपूर्ण बात के प्रकाशन करने से कभी हिचकते न थे। जांच के बाद तो वह बड़ी से बड़ी विपत्ति का भी प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करते थे। संपादकीय कर्तव्य के इस अंग का प्रतिपालन गणेशजी ने अपना तन-मन सब कुछ न्योछावर करके किया। लोक सेवा का यह कर्तव्य संपादक का सबसे बड़ा कर्तव्य है, और गणेशजी ने बड़ी से बड़ी कीमत देकर भी इसका आजन्म पालन किया। अपनी इस कर्त्तव्यपरायणता के कारण उन्हें जाने कितनी बार जेल जाना पड़ा, जमानतें देनी और जब्ती करवानी पड़ी। न जाने कितने जमींदारों, ओहदेदारों, राजों और महाराजाओं की नाराजगी उठानी पड़ी और न जाने क्या-क्या कष्ट सहने पड़े। इस प्रकार के समाचार पाकर लोग अपना उल्लू सीधा करने की ताक में रहते हैं, मगर गणेशजी के उदात्त विचारों में इस प्रकार की गंदगी कभी नहीं आई। वह बड़े से बड़े प्रलोभनों से भी विचलित नहीं हुए। पत्रकार के लिए अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा और भी अधिक से अधिक जानकारी हासिल करने के लिए उत्सुक रहना विशेष गुण समझा जाता है।'

स्वतंत्रता से पूर्व जब एक बार हिंदी और हिंदुस्तानी का विवाद जोरों पर था तो उन दिनों एक ओर गांधीजी हिंदुस्तानी भाषा की वकालत कर रहे थे तो दूसरी ओर पुरुषोत्तमदास टंडन इसके विरोध में खड़े थे। उस समय हिंदुस्तानी अकादमी में एक विद्वान ने अपने भाषण में कहा था - 'आप लोग हिंदुस्तानी जबान की सृष्टि कर रहे हैं। पर क्या आपको मालूम है कि जुबान की सृष्टि हो चुकी है और उसका सृजनहार है - गणेशशंकर विद्यार्थी। अगर आपको मेरी बात का यकीन न हो तो आप

एक बार 'प्रताप' में लिखे विद्यार्थीजी के लेखों को पढ़ जाइए। आप उन लेखों में शुद्ध हिंदुस्तानी जबान पढ़कर आनंदमग्न हो जाएंगे।' हिंदुस्तानी भाषा के इसी आदि आचार्य ने पत्रकारिता के संबंध में जो कुछ सोचा, वह हमारे संपादकों, लेखकों और पत्रकारों के लिए बहुत गौरतलब है। 'पत्रकार का दायित्व' लेख में उन्होंने लिखा था - 'संसार के अधिकांश समाचार पत्र पैसे कमाने और झूठ को सच सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं जितने कि संसार के बहुत-से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचार पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। इसी प्रकार के संचालन के लिए वे हर समय, हर तरह के हथकंडों से काम लेना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं। इस काम में वे इस बात का विचार करना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है। सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं। संसार-भर में यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोड़कर, सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं। जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपना पेशा बना रखा है, उनमें ऐसे बहुत कम लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सच्चाई की भी लाज रखनी चाहिए, केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं है।

इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार पत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिंदी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिंचती जा रही है। यहां भी अब बहुत-से साधारण समाचार पत्र सर्वसाधारण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। एक समय था जब इस देश में साधारण आदमी सर्वसाधारण के हितार्थ एक ऊंची भावना लेकर पत्र निकालता था, और उस पत्र को जीवन-क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था। आज वैसा नहीं हो रहा है। आपके पास जबरदस्त विचार हो, और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो, तो आपके विचार आगे न फैल सकेंगे, आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचार पत्रों का आधार धन होता जा रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर चलते हैं, और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करने वाले बहुत-से पत्रकार भी धन ही की कामना करते हैं। अभी यहां पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किंतु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही दिन पश्चात यहां के समाचार पत्र भी मशीन के सदृश्य हो जाएंगे, और उनमें काम करने वाले पत्रकार केवल मशीन के पुरजे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अंतर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल खींची हुई लकीर पर चलना। मैं तो

गणेशशंकरजी में एक अच्छे पत्रकार की सभी खूबियां मौजूद थीं। वे जहां निर्भीकतापूर्वक 'प्रताप' का संपादन और प्रकाशन करते रहे, वहीं कितने ही लोगों को लेखक और पत्रकार बनाने में उन्होंने भरपूर सहयोग किया। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद को हिंदी में लिखने को उन्होंने ही प्रेरित और प्रोत्साहित किया था। श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' ने भी उन्हीं की प्रेरणा से प्रसिद्ध झंडा-गीत 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' की रचना की थी। भगतसिंह भी काफी दिनों तक 'प्रताप' प्रेस में काम करते रहे और उन्होंने छद्म नाम से उसमें नियमित लेख भी लिखे।

उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे, और भी छोटे, किंतु सिद्धांतों वाले होना अच्छा। पत्रकार कैसा हो, इस संबंध में दो रायें हैं। एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, व न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। एक पत्र में वह नरम बात कहे, तो बिना हिचक, दूसरे में वह गरम कह सकता है, जैसा वातावरण देखे, वैसा करे, अपने लिखने की शक्ति से डटकर पैसा कमाए, धर्म और अधर्म के झगड़े में न अपना समय खर्च करे और न अपना दिमाग ही। दूसरी राय यह है कि पत्रकार की अपने समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का विचार रखकर लिखे, और अपनी मति-गति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं, लोकसेवा ही उसका ध्येय है, और अपने काम से जो वह कमा सकता है, वह ध्येय तक पहुंचने के लिए एक साधन मात्र है। संसार के पत्रकारों में दो तरह के आदमी हैं। पहले दूसरे तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में पहली तरह के। उन्नति समाचार पत्रों के आकारों-प्रकारों में हुई है। खेद की बात है कि उन्नति आचरणों में नहीं हुई। हिंदी के समाचार पत्र भी कथित उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। मैं हृदय से चाहता हूं कि उन्नति उधर हो या न हो, किंतु कम से कम वे आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें, और जो सज्जन इन पंक्तियों को पढ़ें, वे आचरण-संबंधी आदर्श को सदा ऊंचा रखें और समझें। पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष में किसी भी नए पत्रकार को ऊंचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।'

गणेशशंकरजी में एक अच्छे पत्रकार की सभी खूबियां मौजूद थीं। वे जहां निर्भीकतापूर्वक 'प्रताप' का संपादन और प्रकाशन करते रहे, वहीं कितने ही लोगों को लेखक और पत्रकार बनाने में उन्होंने भरपूर सहयोग किया। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद को हिंदी में लिखने को उन्होंने ही प्रेरित और प्रोत्साहित किया था। श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' ने भी उन्हीं की प्रेरणा से प्रसिद्ध झंडा-गीत 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' की रचना की थी। भगतसिंह भी काफी दिनों तक 'प्रताप' प्रेस में काम करते रहे और उन्होंने छद्म नाम से उसमें नियमित लेख भी लिखे।

'प्रताप' कार्यालय तो वैसे भी क्रांतिकारियों का अड्डा था। कांग्रेस से जुड़े होने पर भी गणेशशंकरजी क्रांतिकारियों को भरपूर सहयोग और संरक्षण प्रदान करते रहे। शौकत उस्मानी भी बहुत दिनों 'प्रताप' कार्यालय में रहे। 'मैनपुरी षड्यंत्र केस' से लेकर काकोरी और लाहौर के मुकदमों की पैरवी तक क्रांतिकारियों के प्रति उनकी पक्षधरता देखने लायक थी। वे अपनी शक्ति भर बंदी क्रांतिकारियों को न्याय दिलाने की चेष्टा करते रहे और उनके परिवार वालों को सहायता पहुंचाने में भी उन्होंने कोई कोताही नहीं की। काकोरी कांड में फांसियों के बाद वे रामप्रसाद बिस्मिल के माता-पिता, अशफाकउल्ला के भाई और शहीद रोशनसिंह की पत्नी, पुत्र व पुत्री को बड़ी मदद करते रहे। वे रोशनसिंह की पुत्री के विवाह में

उनके गांव नवादा भी गए और कहा कि रोशनसिंह के अभाव में इस पुत्री का पिता मैं हूं। इस विवाह के ठीक पहले जब हलके का एक दरोगा यह कहकर उसमें अड़चन डाल रहा था कि क्रांतिकारी की लड़की से विवाह करने वाले भी राजद्रोही समझे जाएंगे। तब भी गणेशशंकरजी ने वहां जाकर उस दरोगा की लानत-मलानत की थी। उनकी जीवनी में लिखा है - 'काकोरी के सजायाफ्ता नौजवानों ने अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहारों के कारण सन् 1927 ई. में विभिन्न जेलों में अनशन शुरू कर दिया। इन अनशनकारियों में राजकुमार सिन्हा, रामकृष्ण खत्री, मुकुंदीलाल, विष्णुशरण दुबलिश थे। विद्यार्थीजी दस दिन, पंद्रह दिन, बीस दिन, पच्चीस दिन देखते रहे, पर सरकार टस से मस न हुई। विद्यार्थीजी ने होम मेंबर को चिट्ठियां लिखीं, तार भेजे कि जनाब और कुछ न सही, इनसानियत के ही नाते इन नौजवानों पर रहम खाकर प्राण बख्शे जाएं। पर कुछ न हुआ। चालीस-चालीस, पैंतालिस-पैंतालिस दिन हो गए, मौत की नौबत पहुंच गई, फिर भी कुछ होते न देखा तो विद्यार्थीजी का कोमल हृदय कांप उठा, उन्हें अनशन को बंद कराने की सूझी क्योंकि प्राणरक्षा का अब कोई तरीका रह नहीं गया था। फतेहगढ़ जेल में दौड़े हुए गए और बहुत समझा-बुझा कर योगेश चटर्जी, गोविंदचरण कार और रामदुलारे त्रिवेदी का 41 दिन के उपवास के बाद अनशन बंद कराया। उसके बाद नैनी जेल गए और उपवास के 47 वें दिन दुबलिश, मन्मथनाथ का अनशन बंद करवाकर उनकी प्राणरक्षा की। आगरा तथा बरेली की जेल में रहने वालों के पास भी जाने ही वाले थे, पर इन दोनों जगहों के भाइयों के अनशन बंद करने की बात सुनकर उन्होंने स्वयं ही वहां पहुंचना स्थगित कर दिया। इसी प्रकार 1929 ई. में जब लाहौर षड्यंत्र केस के सरदार भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त आदि क्रांतिकारियों को अनशन करते दो-दो मास से भी अधिक हो गए थे, तो आप वहां भी दौड़े हुए गए और लोगों का अनशन बंद कराने की पूरी चेष्टा की।'

कांग्रेस में रहकर इस तरह क्रांतिकारी आंदोलन को सहयोग करना गणेशशंकरजी के ही बूते की बात थी। वे संकीर्ण मनोवृत्ति के थे ही नहीं। वे हमेशा ऐसे व्यक्तियों की खूब प्रशंसा करते थे जिनसे उनका मतभेद होता था। पं. रामप्रसाद बिस्मिल की फांसीघर में लिखी आत्मकथा का प्रकाशन उन्होंने 'प्रताप' प्रेस से ही किया था और उस पर 'प्रताप' के एक अंक में प्रशंसनीय लेख भी लिखा था। काकोरी के क्रांतिकारियों की फांसियों पर 'प्रताप' के एक अग्रलेख में लिखी गई उनकी मार्मिक टिप्पणी इसका सबसे बड़ा साक्ष्य है। 'वे दीवाने' शीर्षक में उनके शब्द इस प्रकार थे -

'अनुत्तरदायी? जल्दबाज? अधीर आदर्शवादी? लूटेरे? डाकू? हत्यारे अरे ओ दुनियादार? तू उन्हें किस नाम से, किस गाली से विभूषित करना चाहता है?

'वे मस्त हैं, वे दीवाने हैं, वे इस दुनिया के नहीं। वे स्वप्नलोक की वीथियों में विचरण करते हैं। उनकी दुनिया में शासन की कटुता से, मां धरित्री का दूध अपेय नहीं बनता। उनके कल्पना लोक में ऊंच-नीच का, धनी-निर्धन का, हिंदू-मुसलमान का भेद नहीं है। इसी संभावना का प्रचार करने के लिए वे जीते हैं। इसी दुनिया में उसी आदर्श को स्थापित करने के लिए वे मरते हैं। दुनिया के पठित मूर्खों की मंडली उनको गालियां देती है लेकिन यदि सत्य के प्रचारक गालियों की परवाह करते तो शायद दुनिया में आज सत्य, न्याय, स्वातंत्र्य और आदर्श के उपासकों के वंश में कोई नाम लेवा और पानी देवा भी न रह जाता। लोक रूचि अथवा लोकोक्तियों के अनुसार जो अपना जीवनयापन करते हैं, वे अपने पड़ोसियों की प्रशंसा के पात्र भले ही बन जाएं, पर उनका जीवन औरों के लिए नहीं होता। संसार को जिन्होंने ठोकर मारकर आगे बढ़ाया वे सभी अपने-अपने समय में लांछित हो चुके हैं। दुनिया खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने तथा उपयोग करने की वस्तुओं का व्यापार करती है। पर कुछ दीवाने चिल्लाते फिरते हैं - 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।'

ऐसे कुशल किंतु औघट व्यापारी भी कभी देखे हैं? अगर एकबार आप हम उन्हें देख लें तो कृतकृत्य हो जाएं।'

फैजाबाद जेल के फांसीघर से अशफाकउल्ला ने गणेशशंकरजी को एक पत्र लिखकर कहा था कि वे उनसे 19 दिसंबर को लखनऊ स्टेशन पर मिलना न भूलें। 1927 के दिसंबर की 19 तारीख ही फांसी की तय थी। उस रोज फांसी के बाद अशफाक की लाश उनके खानदानी कब्रिस्तान में दफनाने के लिए घर वालों को दे दी गई। रेल के जिस डिब्बे से अशफाक का मृत शरीर लाया जा रहा था, गणेशशंकरजी ने लखनऊ रेलवे स्टेशन पर पहुंचकर शहीद को प्रणाम किया और चेहरे से कफन हटाकर उनका चेहरा भी देखा। फिर पारसी शाह फोटोग्राफर से उन्होंने अशफाक का एक चित्र खिंचवाया और अशफाक के भाई रियासतउल्ला खां से बोले - 'तुम इनकी कच्ची कब्र बनवा देना। पक्की हम करा देंगे और इनका मकबरा ऐसा बनवाएंगे जिसकी नजीर यू.पी. में न होगी।'

गणेशशंकरजी के जीवन, उनके त्याग, आदर्श और सिद्धांतप्रियता की चर्चा करते हुए एक प्रमुख सहयोगी पत्रकार कृष्णदत्त पालीवाल ने अपने संस्मरणों में बताया था - 'जब मैं मुस्लिम कॉलेज अलीगढ़ से एम.ए., एल.एल.बी. पढ़ने गया तभी गणेशजी ने मुझे 'प्रताप' में जोतने के लिए 'प्रभा' का प्रकाशन शुरू कर दिया जिसका मैं 'देवदूत बी.ए.' के नाम से संपादन करता रहा। 'प्रभा' के संपादकों में देवदूत के नाम के अतिरिक्त गणेशजी के नाम का जाना पत्रिका की सफलता के लिए आवश्यक था परंतु उसकी संपादकीय टिप्पणियों में मैं अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त करता था, जो कभी-कभी गणेशजी के विचारों के प्रतिकूल भी होते थे। ऐसे ही एक अवसर पर दैनिक पत्र ने गणेशजी पर यह आक्षेप किया कि 'प्रताप' में वे जो विचार व्यक्त करते हैं, 'प्रभा' में उसी के प्रतिकूल लिखते हैं। इस पर भी गणेशजी ने मुझे टोकने के बजाय उस पत्र के आक्षेप का यही उत्तर दिया कि 'प्रभा' के दूसरे संपादक भी हैं। स्वयं 'प्रताप' में मैं 1920 में बहुधा असहयोग आंदोलन के विरुद्ध

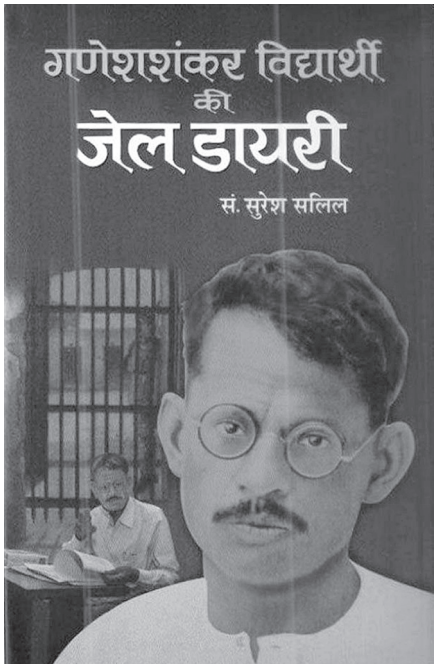

गणेशशंकरजी की यह जेल डायरी एक पत्रकार और आजादी की लड़ाई लड़ रहे एक सैनिक की आत्माभिव्यक्ति है जिसे उन्होंने 31 जनवरी 1922 से 17 मई 1922 की अवधि में लखनऊ जेल में रहते हुए लिपिबद्ध किया था। तत्कालीन वातावरण और स्वतंत्रता जैसी बड़ी लड़ाई में संलिप्त उन स्वतंत्रता संग्राम सैनिकों की आस्थाओं और प्रतिबद्धताओं को चीह्नने और उसे व्यक्त करने में उनसे कोई चूक नहीं हुई।

अग्रलेख लिखता था, जबकि गणेशजी असहयोग आंदोलन के परमभक्त और अनुयायी थे। मेरे इन विचारों के कारण 'प्रताप' को भारी हानि पहुंची। लोगों ने प्रेस को जला देने तक की धमकी दी। ग्राहक संख्या चौदह हजार से घटकर सात हजार रह गई लेकिन गणेशजी ने मुझसे यह नहीं कहा कि तुम यह क्या कर रहे हो?

'उनकी त्यागवृत्ति और सिद्धांतप्रियता का एक और उदाहरण है। रायबरेली मानहानि केस आदि आघातों के फलस्वरूप दैनिक 'प्रताप' बंद हो चुका था। उसके कुछ दिन बाद मई सन् 1922 में होने वाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में शामिल होने के लिए गणेशजी और मैं लखनऊ जा रहे थे। कानपुर स्टेशन पर उसी गाड़ी में जाते हुए जमनालालजी बजाज ने गणेशजी को देखकर उन्हें अपने पास बुला लिया। लखनऊ पहुंचकर गणेशजी ने मुझसे कहा कि जमनालालजी कह रहे हैं कि दैनिक 'प्रताप' निकालो, उसके लिए दस हजार रुपये की सहायता मैं दे दूंगा। इस पर मैंने गणेशजी से कहा - 'जमनालालजी से रुपये लेकर दैनिक 'प्रताप' निकालना ठीक न होगा। यद्यपि जमनालालजी आपका आदर करते हैं तथापि महात्मा गांधी में उनकी श्रद्धा आपसे भी अधिक है। इसलिए सहज ही वे आपसे यह आशा करेंगे कि 'प्रताप' में महात्मा गांधी के कार्यक्रम की आलोचना न की जाए। महात्माजी के कार्यक्रम की आलोचना होने पर वे चाहें कुछ भी न कहें तब ही मन में तो अनुभव अवश्य करेंगे कि यह तो ठीक नहीं हो रहा।... गणेशजी स्वयं तो महात्माजी के अनन्य भक्त थे परंतु चूंकि मैं उन दिनों महात्माजी के असहयोग आंदोलन से सब बातों में सहमत नहीं था, इसलिए मेरे मनोभावों का ख्याल करके गणेशजी ने जमनालालजी की सहायता को स्वीकार नहीं किया। संसार में कितने लोग इस प्रकार के त्याग का परिचय दे सकते हैं।'

'प्रताप' के दैनिक संस्करण का प्रकाशन होने पर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आशा और आशीष व्यक्त करते हुए लिखा था - 'प्रताप', तुम्हारे आविर्भाव के समय ही तुम्हारे कार्य-कलाप देखकर हृदय में यह भाव उदित हुआ कि तुम कुछ काम कर दिखाओगे। वह संभावना सच निकली। अत्यंत छोटे बीज के भीतर जिस प्रकार वट का विशाल वृक्ष छिपा रहता है, उस तरह तुम्हारे उस आरंभिक अवतार में तुम्हारा यह आज का आकार और प्रकार भी निहित था। थोड़े ही दिनों में बढ़कर तुमने अपना कर्तव्य छाया के अविष्कारक के सदृश्य भारतवासियों के अंतःकरण को सुखी कर दिया। अब तो तुम उस छाया के प्रभाव को और भी दूर-दूर तक बढ़ा रहे हो। यह तुम्हारी कर्तव्यनिष्ठा, सतत चिंतन, कार्यतत्परता, सत्य, प्रीति और श्रम-सहिष्णुता का फल है।

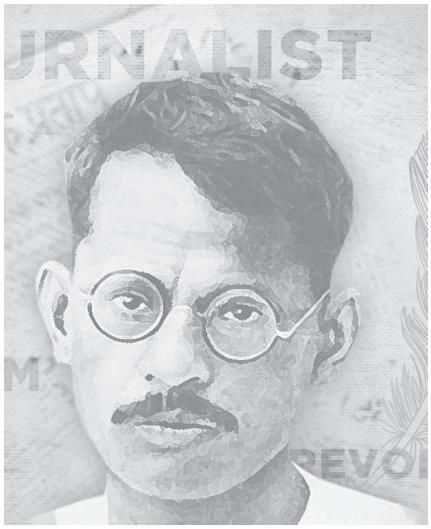

गणेशशंकरजी में एक अच्छे पत्रकार की सभी खूबियां मौजूद थीं। वे जहां निर्भीकतापूर्वक 'प्रताप' का संपादन और प्रकाशन करते रहे, वहीं कितने ही लोगों को लेखक और पत्रकार बनाने में उन्होंने भरपूर सहयोग किया। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद को हिंदी में लिखने को उन्होंने ही प्रेरित और प्रोत्साहित किया था। श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' ने भी उन्हीं की प्रेरणा से प्रसिद्ध झंडा-गीत 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' की रचना की थी। भगतसिंह भी काफी दिनों तक 'प्रताप' प्रेस में काम करते रहे और उन्होंने छद्म नाम से उसमें नियमित लेख भी लिखे।

ईश्वर करे तुममें पूर्वोक्त गुणों का दिन-पर-दिन आधिक्य होता जाए, ईश्वर करे, तुम्हारे मार्ग पर चलने वालों की कामनाएं सफल हों, ईश्वर करे, किसी दिन तुम्हें सभ्य, शिक्षित और स्वतंत्र देश इंग्लैंड के 'टाइम्स' की पदवी भारत में प्राप्त हो जाए। अपने देश को ही अपना आराधना-मंदिर और देशवासियों को ही अपना अराध्य समझो। भेद-भाव से दूर रहो। सत्य का सदा आदर करो। कर्तव्य-पालन ही को अपना सबसे बड़ा धर्म मानो। न्याय-पथ से कभी भ्रष्ट न हो। परमात्मा को सर्वसाक्षी समझ कर अपनी आत्मा को अन्याय के लेश से भी संश्लिष्ट न होने दो। न किसी के कोप से विचलित हो, न किसी के प्रसाद से कर्तव्य-च्युत। याद रखो, सर्वहित चिंतक और सरल मार्गगामी सज्जन ही संसार में सफल काम होते हैं।'

'एक बात और करो। विवेक को कभी हाथ से न जाने दो। जो करो, परिणाम पर ध्यान देकर सोच-समझकर करो। ऐसा न हो कि तुम्हारे किसी अपरिणामदर्शी कार्य के कारण तुम्हारे मार्ग का अवरोध हो जाए अथवा तुम्हारी गति मंद पड़ जाए। सर्वसाधारण जनों के सच्चे सेवक बनने की चेष्टा करो। उन्हीं के हितों को अपना हित समझो। उन्हीं की संतुष्टि, उन्हीं की उन्नति, उन्हीं की कार्य-सिद्धि को अपना सबसे बड़ा पुरस्कार जानो।'

पत्रकारिता के लिए ऐसे आदर्शों का परचम लेकर गणेशशंकरजी ने जिस रास्ते को तय किया, वह कांटों भरा था। फतेहपुर जिला राजनीतिक सम्मेलन का नेतृत्व करते हुए 1923 में उन्होंने कहा था - 'मैं संग्राम का पक्षपाती हूं। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूं। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमींदारी की, धनवानों की हो या ऊंची जातियों की।' इस संबंध में उन्होंने 29 जनवरी को हरदोई जेल में अपनी डायरी में लिखा था - 'जीवन भर अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा। ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूं।'

'प्रताप' को जनता का जिस तरह अभूपूर्व सहयोग मिला उससे गणेशशंकरजी के मन में एक ट्रस्ट के गठन का भी विचार आया। उनकी इस योजना से शिवनारायण मिश्र भी सहात थे। अतः 15 मार्च 1919 को प्रताप-ट्रस्ट का रजिस्ट्रेशन कराया गया जिसमें गणेशशंकर विद्यार्थी, शिवनारायण मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, डॉ. जवाहरलाल रोहतगी और लाला फूलचंद थे। उस समय तक 'प्रताप' के संपादक-मुद्रक-प्रकाशक के रूप में गणेशशंकरजी का नाम ही जा रहा था। पर अब इशका मुद्रक-प्रकाशक शिवनारायणजी को बनाया गया। जानने योग्य है कि जब गणेशशंकरजी मजिस्ट्रेट के पास इस आशय का घोषणापत्र जमा करने गए तो उनसे जमानत की धनराशि एक हजार से बढ़ाकर दो हजार रुपये मांगी गई। मजिस्ट्रेट मि. स्ट्राइफ ने यह भी कहा कि चूंकि नए प्रिंटर का इस 'बदनाम पत्र' से पुराना संबंध है और पहले वाला प्रिंटर (गणेशशंकरजी) जो हाल में ही हुई कानपुर की मजदूर हड़तालों की खुली नेतागिरी करता रहा, ट्रस्ट में भी है, अतः प्रकाशक को चेतावनी दी जाती है कि उसे पत्र प्रकाशित करने की आजादी उस समय तक नहीं है जब तक वह मेरी अदालत में जमानत न दाखिल कर दे। जमानत दाखिल कर दी गई लेकिन 'प्रताप' ऐसी चेतावनियों को मानने वाला कहा था। उसके अस्तित्व की शर्त ही देश में स्वतंत्रता की अलख जगाने और जनता को सामंती उत्पीड़न के खिलाफ जंगजू बनाने में निहित थी।

‘कश्मीरनामा’ इतिहास भी है और साहित्य भी

शेष नारायण सिंह

पत्रकार

संपर्क :
205, संवाद अपार्टमेंट्स,
सेक्टर-अल्फा-1, ग्रेटर
नोएडा-201310 (उ.प्र.)
मो. 9873875927

‘कश्मीरनामा’ बहुत पहले से चर्चा में थी। कश्मीर के मामले में एक सामान्य व्यक्ति को जो कुछ भी जानना चाहिए सब एक ही किताब में लिख दिया गया है। हिंदी में बहुत अच्छे गद्य की जो कुछ किताबें उपलब्ध हैं, अशोक कुमार पांडेय की कश्मीरनामा उसमें सरे-फेहरिस्त मानी जाएगी। कश्मीर की संस्कृति, इतिहास, समाज आदि के बारे में उपलब्ध सामग्री को अशोक कुमार पांडेय की पारखी नजर ने इतिहास की किताब को साहित्य की किताब भी बना दिया है। पूरी किताब में इतिहास की कसौटी पर परखी गई सच्चाइयों को वे एक दास्तानगो की तरह बयान करते जाते हैं और आप कठोर से कठोर सत्य आत्मसात करते रहते हैं।

हिंदी में कश्मीर के बारे में एक मुकम्मल किताब ‘कश्मीरनामा’ बहुत पहले से चर्चा में थी लेकिन मैं पढ़ नहीं पाया था। जब पढ़ना शुरू किया तो पढता ही गया। कश्मीर के मामले में एक सामान्य व्यक्ति को जो कुछ भी जानना चाहिए सब एक ही किताब में लिख दिया गया है। हिंदी में बहुत अच्छे गद्य की जो कुछ किताबें उपलब्ध हैं, अशोक कुमार पांडेय की कश्मीरनामा उसमें सरे-फेहरिस्त मानी जाएगी। मेरे लिए इस किताब का पढ़ना उस यात्रा से गुजर जाना भी है जब आज से करीब 35 साल पहले मैंने, स्व. बलराज पुरी के साथ दक्षिण दिल्ली के गुलमोहर पार्क में शुरू की थी। वे जब भी दिल्ली आते थे, उनकी जबानी कश्मीर के समकालीन इतिहास की बहुत सारी घटनाओं को ध्यानमग्न होकर मैंने सुना था। बलराज पुरी कश्मीरी मामलों के आला मेयार के जानकार थे। शेख अब्दुल्ला के साथ काम किया था और बहुत सारी घटनाओं को उन्होंने देखा तो था ही, कुछ में बाकायदा शामिल भी हुए थे। वे पंजाबी के साहित्यकार प्यारा सिंह सहराई के दोस्त थे और हम सहराई जी के भांजे क्योंकि मेरी पत्नी को सहराईजी अपनी भांजी मानते हैं। अशोक कुमार पांडेय की किताब को पढने के बाद मैं इसको एक बेहतरीन किताब मानता हूं। यह एक लोकप्रिय किताब है और साल भर बीतने के पहले ही इसका दूसरा संस्करण आ चुका है। हमारे समकालीन जन बुद्धिजीवी (Public Intellectual) पुरुषोत्तम अग्रवाल ने किताब के आमुख में बहुत अच्छी बातें लिखीं हैं। शुरू में लगा कि उन्होंने कुछ ज्यादा तारीफ लिख दिया है लेकिन अब मैं मुतमइन हूं कि अपनी प्रकृति के हिसाब से ही पुरुषोत्तम ने लिखा है। कश्मीर की संस्कृति, इतिहास, समाज आदि के बारे में उपलब्ध सामग्री को अशोक कुमार पांडेय की पारखी नजर ने इतिहास की किताब को साहित्य की किताब भी बना दिया है। पूरी किताब में इतिहास की कसौटी पर परखी गई सच्चाइयों को वे एक दास्तानगो की तरह बयान करते जाते हैं और आप कठोर से कठोर सत्य आत्मसात् करते रहते हैं। हिंदी साहित्य की बारीकियों की समझ मुझे बिलकुल नहीं है लेकिन एक आम पाठक के रूप में मैंने इस किताब को बहुत पसंद किया। अशोक कुमार पांडेय की शैली के अनुभव के लिए किताब के कुछ अंश देखना उपयोगी होगा। शेख अब्दुल्ला की राजनीति की शुरुआत को जिस तरह से चित्रित किया गया है वह लाजवाब है। 1931 के जनविद्रोह के बारे में ‘कश्मीरनामा’ के पृ. 235 में लिखा है, ‘29 अप्रैल, 1931 को जम्मू में वह घटना हुई जिसने बारूद में तीली लगाने का काम किया। ईद के समारोह के दौरान जब इमाम खुतबा पढ़ने लगे तो खेमचंद नामक एक पुलिस अधिकारी ने उन्हें ऐसा करने से रोका, जबकि खुतबा परंपरा से हमेशा इस मौके पर पढ़ा जाता था। मुसलमानों ने इसे अपने धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करार दिया और विरोध प्रदर्शन शुरू हो गए। अभी इस मुद्दे की आग बुझी भी नहीं थी कि जुलाई में जम्मू की पुलिस लाइन में एक और घटना घटी। प्रेमनाथ बजाज बताते हैं कि एक हिंदू हेड कांस्टेबल लाभो राम ने अपने अधीनस्थ एक मुस्लिम कांस्टेबल के समय से काम पर न आने के कारण उसका बिस्तर उठाकर फेंका जिसमें उसके बिस्तर में रखा पंजसुरा (कुरान का एक हिस्सा) भी फेंक गया लेकिन खुतबा वाली घटना पर सभी लेखक जहां एक राय हैं वहीं इस घटना को लेकर उनमें पर्याप्त मतभेद है। हसनैन ने बिस्तर फेंकने की घटना का जिक्र न करते हुए मुस्लिम कांस्टेबल के नमाज पढ़ते समय हिंदू हेड कांस्टेबल द्वारा कुरान (पंजसुरा नहीं) फेंके

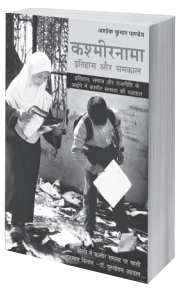

पुस्तक : कश्मीरनामा
लेखक : अशोक कुमार पांडेय
प्रकाशक : राजपाल एंड संस, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ : 460
मूल्य : ₹ 625

जाने की बात कही है। एम. जे. अकबर ने लाहौर के आल-कश्मीर मुस्लिम कांफ्रेंस के सालाना जलसे से लौटते युवाओं के आंदोलन के दौरान एक कांस्टेबल के कुरान फेंकने की बात कही है। शेख अब्दुल्ला ने अपनी जीवनी में लिखा है कि लाभो राम ने अपने एक साथी के झोले से कुरान निकालकर फाड़ दी। मृदु राय पुलिस विभाग की तत्कालीन पाक्षिक रिपोर्ट के हवाले से बताती हैं कि उस समय अफवाह थी कि एक हिंदू पुलिस हेड कांस्टेबल ने अपने अधीनस्थ कांस्टेबल को नमाज पढ़ने से रोका और फिर कुरान का अपमान किया गया, पाया गया कि घटना को बहुत बढ़ा चढ़ा के बयान किया गया है।

ऐसा लगता है कि वे अफवाहें कभी नहीं थमीं। प्रेस और छापेखाने पर पूरी तरह से पाबंदी के कारण लोगों ने जो जाना वह अफवाहों या फिर पंजाब से छपने वाले हिंदू/मुस्लिम अखबारों से ही जाना। यह वह जगह है जहां से एजेंडा सेट होने शुरू होते हैं अपने-अपने एजेंडे के अनुसार इस तरह के मतभेद, घटनाओं की चयनित प्रस्तुति और अप्रस्तुति बहुत सामान्य होती चली जाती है। यह वह जगह है, जहां से कश्मीर का आधुनिक इतिहास शुरू होता है, जहां से घटनाएं बिजली की गति से आकार लेना शुरू करती हैं और उस हाथी की तरह होती जाती हैं जिसके अलग-अलग हिस्सों को छू-छूकर लोग उसके आकार का अनुमान लगाते हैं- फर्क बस इतना है कि यहां देखने वाले अँधे नहीं हैं, उन्होंने आँखें मूंदना और खोलना चुना है। इसीलिए इन्हें पढ़ते हुए पाठकों को और अधिक सावधान होने की जरूरत है।

यह शायद कोई कभी नहीं जान पाएगा कि उस पुलिस लाइन में उस दिन हुआ क्या था, लेकिन उसकी जिस तरह की प्रतिक्रिया हुई उसे देखने-समझने के पहले एक और तथ्य को जान लेना आवश्यक है। गोलमेज सम्मेलन के दौरान हरि सिंह के भाषणों ने ब्रिटिश शासन को काफी चौंकाया था। उन्होंने खुद को पहले भारतीय ही नहीं बताया था बल्कि कुछ ऐसी बातें कही थीं जो ब्रिटिश शासन के लिए सहनीय नहीं थीं। यही नहीं अपने शासकीय व्यवहार में वह प्रताप सिंह से उलट ब्रिटिश रेजीडेंसी को वह महत्व नहीं देते थे। जाहिर है अंग्रेज ऐसे व्यवहार से नाखुश थे। इधर सविनय अवज्ञा आंदोलन से बाहर रहे सांप्रदायिक मुस्लिम संगठन उन्हें कांग्रेस के खिलाफ अपने तत्कालीन सहयोगी के रूप में मिले थे। प्रेमनाथ बजाज सहित कई लेखकों का मानना है कि अपनी इसी नीति के तहत

'कश्मीरनामा' किताब कश्मीर के बारे में सारी जरूरी जानकारी है। वे सभी दस्तावेज भी किताब में संलग्न हैं जिनको कश्मीर का समकालीन इतिहास समझने के लिए जरूरी माना जाता है। 16 मार्च, 1846 की अमृतसर संधि, स्टैंडस्टिल समझौता, ताशकंद समझौता, शिमला समझौता सब कुछ एक जगह पर इकट्ठा कर दिया गया है। इतिहास में शेख अब्दुल्ला की सही भूमिका को बहुत ही वस्तुवादी तरीके से रिकार्ड किया गया है। कश्मीर के समकालीन इतिहास के बारे में बहुत सारी भ्रांतियां हैं और यह किताब उनको साफ करने में अहम भूमिका निभाती है।

अंग्रेजों ने न केवल इस आंदोलन को नियंत्रित करने में समुचित सहयोग नहीं दिया बल्कि जम्मू-कश्मीर में सांप्रदायिकता को बढ़ावा भी दिया। यह भी सच है कि देश के अनेक हिस्सों और खासतौर पर पंजाब से विभिन्न संगठनों और अखबारों ने इस आंदोलन को भड़काने में अहम भूमिका निभाई। यह कहना बलराज मधोक या फिर उनके वैचारिक सहयोगियों के लिए बेहद सुविधाजनक भी है। क्या यह उन अत्याचारों और सांप्रदायिक नीतियों की उपस्थिति में संभव था जिसकी वजह से कश्मीरी मुसलमान खुद को लगातार उपेक्षित, पीड़ित और हिंदू आबादी के सम्मुख भेदभाव से ग्रसित व्यवहार का शिकार महसूस कर रहे थे? अगर कश्यप बंधु जैसे पंडित अपनी बिरादरी को सत्ता के समरूप कह रहे थे तो उस सत्ता के खिलाफ खड़े कश्मीरी मुसलमान उन्हें अपना साथी कैसे मान सकते थे? आज जब हम कश्मीर में पाकिस्तान के हस्तक्षेप की बात करते हैं, वहां सांप्रदायिकता के बढ़ने की बात करते हैं और बलराज मधोक के वैचारिक उत्तराधिकारी इसके लिए कश्मीरियों को ही दोषी ठहराते हुए कड़ी कार्यवाहियों की वकालत करते हैं तो इस घटना का ऐतिहासिक महत्व और बढ़ जाता है और यह एहसास भी कि इतिहास का सबसे बड़ा सबक यही है कि हम उससे कोई सबक नहीं सीखते।'

इसके पहले कश्मीर के बारे में सारी जरूरी जानकारी है। वे सभी दस्तावेज भी किताब में संलग्न हैं जिनको कश्मीर का समकालीन इतिहास समझने के लिए जरूरी माना जाता है। 16 मार्च, 1846 की अमृतसर संधि, स्टैंडस्टिल समझौता, ताशकंद समझौता, शिमला समझौता सब कुछ एक जगह पर इकट्ठा कर दिया गया है। इतिहास में शेख अब्दुल्ला की सही भूमिका को बहुत ही वस्तुवादी तरीके से रिकार्ड किया गया है। कश्मीर के समकालीन इतिहास के बारे में बहुत सारी भ्रांतियां हैं और यह किताब उनको साफ करने में अहम भूमिका निभाती है। अक्टूबर 1947 में जब जम्मू-कश्मीर के राजा ने भारत में अपने राज्य के विलय के दस्तावेज पर दस्तखत किया था तो पूरा राज्य शेख अब्दुल्ला के साथ था। विलय के दस्तावेज पर दस्तखत सरदार पटेल की राजनीतिक ताकत के कारण ही हुआ लेकिन वे बहुत उत्साहित नहीं थे। वे हरि सिंह के पाकिस्तानियों के साथ हुए स्टैंडस्टिल समझौते से बहुत नाराज थे। हालांकि यह भी सच है कि उस दौर में जम्मू-कश्मीर का हर नागरिक भारत के साथ विलय का पक्षधर था। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और शेख अब्दुल्ला ने ही जोर दिया था कि राज्य की जनता की राय लेना जरूरी है लेकिन जिस पाकिस्तान जनता की राय लेने के खिलाफ था। पाकिस्तान ने हर मोर्चे पर कश्मीरी अवाम की बात को न मानने का खेल रचा था। बाद में पाकिस्तान ने जनमत संग्रह का समर्थन करना शुरू कर दिया। अब पाकिस्तान ने जम्मू-कश्मीर में अपने एजेंट छोड़ रखे हैं जिन्होंने वहां पर माहौल को बिलकुल बिगाड़ रखा है। बहुत बड़े पैमाने पर पाकिस्तानी घुसपैठ हुई है। इसलिए पाकिस्तानी सेना की मर्जी से वहां जनमत संग्रह कराने की बात को कोई नहीं स्वीकार कर सकता।

देश के बंटवारे के वक्त अंग्रेजों ने देशी रियासतों को भारत या पाकिस्तान के साथ मिलने की आजादी दी थी। बहुत ही पेचीदा मामला था। ज्यादातर देशी राजा तो भारत के साथ मिल गए लेकिन जूनागढ़, हैदराबाद और जम्मू-कश्मीर का मामला विवादों के घेरे में बना रहा। कश्मीर में ज्यादातर लोग तो आजादी के पक्ष में थे। कुछ लोग चाहते थे कि पाकिस्तान के साथ मिल जाएं लेकिन अपनी स्वायत्तता को सुरक्षित रखें। इस बीच महाराजा हरि सिंह के प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान की सरकार के सामने एक स्टैंडस्टिल एग्रीमेंट का प्रस्ताव रखा जिसके तहत लाहौर

सर्किल के केंद्रीय विभाग पाकिस्तान सरकार के अधीन काम करेंगे। 15 अगस्त को पाकिस्तान की सरकार ने जम्मू-कश्मीर के महाराजा के स्टैंडस्टिल एग्रीमेंट के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जिसके बाद पूरे राज्य के डाकखानों पर पाकिस्तानी झंडे फहराने लगे। भारत सरकार को इससे चिंता हुई और जवाहर लाल नेहरू ने अपनी चिंता का इजहार इन शब्दों में किया 'पाकिस्तान की रणनीति यह है कि अभी ज्यादा से ज्यादा घुसपैठ कर ली जाए और जब जाड़ों में कश्मीर अलग थलग पड़ जाए तो कोई बड़ी कार्रवाई की। 'नेहरू ने सरदार पटेल को एक पत्र भी लिखा कि ऐसे हालात बन रहे हैं कि महाराजा के सामने और कोई विकल्प नहीं बचेगा और वह नेशनल कॉन्फ्रेंस और शेख अब्दुल्ला से मदद मांगेगा और भारत के साथ विलय कर लेगा। अगर ऐसा हो गया गया तो पाकिस्तान के लिए कश्मीर पर किसी तरह का हमला करना इसलिए मुश्किल हो जाएगा कि उसे सीधे भारत से मुकाबला करना पड़ेगा। अगर राजा ने इस सलाह को मान लिया होता तो कश्मीर समस्या का जन्म ही न होता... इस बीच जम्मू में सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे थे। बात अक्टूबर तक बहुत बिगड़ गई और महात्मा गांधी ने इस हालत के लिए महाराजा को व्यक्तिगत तौर पर जिम्मेदार ठहराया। पाकिस्तान ने महाराजा पर दबाव बढाने के लिए लाहौर से आने वाली कपड़े, पेट्रोल और राशन की सप्लाई रोक दी। संचार व्यवस्था पाकिस्तान के पास स्टैंडस्टिल एग्रीमेंट के बाद आ ही गई थी। उसमें भी भारी अड़चन डाली गई... हालात तेजी से बिगड़ रहे थे और लगने लगा था कि अक्टूबर 1946 में की गई महात्मा गांधी की भविष्यवाणी सच हो जाएगी। महात्मा ने कहा था कि अगर राजा अपनी ढुलमुल नीति से बाज नहीं आते तो कश्मीर का एक यूनिट के रूप में बचे रहना संदिग्ध हो जाएगा।

ऐसे हालत में राजा ने पाकिस्तान से रिश्ते सुधारने की कोशिश शुरू कर दी। नतीजा यह हुआ कि उनके प्रधानमंत्री मेहर चंद महाजन को कराची बुलाया गया जहां जाकर उन्होंने अपने ख्याली पुलाव पकाए। महाजन ने कहा कि उनकी इच्छा है कि कश्मीर पूरब का स्विटजरलैंड बन जाए, स्वतंत्र देश हो और भारत और पाकिस्तान दोनों से ही बहुत ही दोस्ताना संबंध रहे, लेकिन पाकिस्तान को कल्पना की इस उड़ान में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसने कहा कि पाकिस्तान में विलय के कागजात पर दस्तखत करो फिर देखा जाएगा।

'कश्मीरनामा' अशोक कुमार पांडेय की एक लोकप्रिय किताब है और साल भर बीतने के पहले ही इसका दूसरा संस्करण आ चुका है। कश्मीर के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उसमें से जो भरोसे लायक है, 'कश्मीरनामा' में उसका हवाला लिया गया है। मूल स्रोतों का भी वैज्ञानिक तरीके से इस्तेमाल किया गया है। संस्कृत पर फारसी में भी कश्मीर के इतिहास के बारे में बहुत सारी मूल सामग्री है जिसका अशोक कुमार पांडेय ने सम्यक इस्तेमाल किया है।

इधर 21 अक्टूबर 1947 के दिन राजा ने अगली चाल चल दी। उन्होंने रिटायर्ड जज बख्शी टेक चंद को नियुक्त कर दिया कि वे कश्मीर का नया संविधान बनाने का काम शुरू कर दें। पाकिस्तान को यह स्वतंत्र देश बनाए रखने का महाराजा का आइडिया पसंद नहीं आया और पाकिस्तान सरकार ने कबायली हमले की शुरुआत कर दी। राजा मुगालते में था और पाकिस्तान की फौज कबायलियों को आगे करके श्रीनगर की तरफ बढ़ रही थी लेकिन बातचीत का सिलसिला भी जारी था। पाकिस्तानी विदेश मंत्रालय के संयुक्त सचिव मेजर ए एस बी शाह श्रीनगर में थे और राजा के अधिकारियों से मिलजुल रहे थे। जिन्ना की उस बात को सच करने की तैयारी थी कि जब उन्होंने दावा किया था कि, 'कश्मीर मेरी जेब में है'।

कश्मीर को उस अक्टूबर में गुलाम होने से बचाया इस लिए जा सका कि घाटी के नेताओं ने फौरन रियासत के विलय के बारे में फैसला ले लिया। कश्मीरी नेताओं के एक राय से लिए गए फैसले के पीछे कुछ बात है जो कश्मीर को एक खास इलाका बनाती है जो बाकी राज्यों से भिन्न है। कश्मीर की यह खासियत जिसे कश्मीरियत भी कहा जाता है, पिछले पांच हजार वर्षों की सांस्कृतिक प्रगति का नतीजा है। कश्मीर हमेशा से ही बहुत सारी संस्कृतियों का मिलन स्थल रहा है। इसीलिए कश्मीरियत में महात्मा बुद्ध की शख्सियत, वेदांत की शिक्षा और इस्लाम का सूफी मत समाहित है। बाकी दुनिया से जो भी आता रहा वह इसी कश्मीरियत में शामिल होता रहा... कश्मीर मामलों के बड़े इतिहासकार मुहम्मद दीन फौक का कहना है कि अरब, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान से जो लोग छः सात सौ साल पहले आए थे, वे सब कश्मीरी मुस्लिम बन चुके हैं। उनकी एक ही पहचान है और वह है कश्मीरी। इसी तरह से कश्मीरी भाषा भी बिलकुल अलग है और कश्मीरी अवाम किसी भी बाहरी शासन को बर्दाश्त नहीं करता।

कश्मीर को मुगल सम्राट अकबर ने 1586 में अपने राज्य में मिला लिया था। उसी दिन से कश्मीरी अपने को गुलाम मानता था और जब 361 साल बाद कश्मीर का भारत में अक्टूबर 1947 में विलय हुआ तो मुसलमान और हिंदू कश्मीरियों ने अपने आपको आजाद माना। इस बीच मुसलमानों, सिखों और हिंदू राजाओं का कश्मीर में शासन रहा लेकिन कश्मीरी उन सबको विदेशी शासक मानता रहा। अंतिम हिंदू राजा, हरी सिंह के खिलाफ आजादी की जो लड़ाई शुरू हुई उसके नेता, शेख अब्दुल्ला थे। शेख ने आजादी के पहले कश्मीर छोड़ो का नारा दिया था। इस आंदोलन को जिन्ना ने गुंडों का आंदोलन कहा था क्योंकि वे राजा के बड़े खैरख्वाह थे जबकि जवाहर लाल नेहरू कश्मीर छोड़ो आंदोलन में शामिल हुए और शेख अब्दुल्ला के कंधे से कंधे मिलाकर खड़े हुए। इसलिए कश्मीर में हिंदू या मुस्लिम का सवाल कभी नहीं था। वहां तो गैर कश्मीरी और कश्मीरी शासक का सवाल था और उस दौर में शेख अब्दुल्ला कश्मीरियों के इकलौते नेता थे, लेकिन राजा भी कम जिद्दी नहीं थे। उन्होंने शेख अब्दुल्ला के ऊपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया और

शेख के वकील थे इलाहाबाद के बैरिस्टर जवाहर लाल नेहरू। 1 अगस्त 1947 को महात्मा गांधी कश्मीर गए और उन्होंने घोषणा कर दी कि जिस अमृतसर समझौते को आधार बनाकर हरि सिंह कश्मीर पर राज कर रहे हैं वह वास्तव में एक बैनामा है और अंग्रेजों के चले जाने के बाद उस गैरकानूनी बैनामे का कोई महत्व नहीं है। गांधीजी ने एक और बात कही जो सबको बहुत अच्छी लगी। उन्होंने कहा कि सत्ता का असली हकदार कश्मीरी अवाम है जबकि जिन्ना कहते रहते थे कि देशी राजाओं की सत्ता को उनसे छीना नहीं जा सकता। राजा के खिलाफ संघर्ष कर रहे कश्मीरी अवाम को यह बात बहुत अच्छी लगी जबकि राजा सब कुछ लूट जाने के बाद भी अपने आपको सर्वोच्च मानते रहे। इसीलिए देशद्रोह के मुकदमे में फंसाए गए शेख अब्दुल्ला को रिहा करने में देरी हुई क्योंकि राजा उनसे लिखवा लेना चाहता था कि वे आगे से उसके प्रति वफादार रहेंगे। शेख अब्दुल्ला ऐसा कुछ भी लिखकर देने को तैयार नहीं थे। शेख कश्मीरी अवाम के हीरो थे। कश्मीरी अवाम के हित के लिए उन्होंने भारत और पाकिस्तान से बातचीत का सिलसिला जारी रखा अपने दो साथियों, बख्शी गुलाम मुहम्मद और गुलाम मुहम्मद सादिक को तो कराची भेज दिया और खुद दिल्ली चले गए। वहां वे जवाहरलाल नेहरू के घर पर ठहरे। कराची गए शेख के नुमाइंदों से न तो जिन्ना मिले और न ही कश्मीरी प्रधानमंत्री लियाकत अली ने उनको समय दिया। शेख ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि कश्मीरी अवाम के नेता वहां दूसरे दर्जे के पाकिस्तानी नेताओं से बात कर रहे थे और इधर कश्मीर में पाकिस्तानी सेना के साथ बढ़ रहे कबायली कश्मीर की जमीन और कश्मीरी अधिकारों को अपने बूटों तले रौंद रहे थे। तेजी से बढ़ रहे कबायलियों को रोकना डोगरा सेना के ब्रिगेडियर राजेंद्र सिंह के बस की बात नहीं थी। पाकिस्तान के इस हमले के कारण कश्मीरी अवाम पाकिस्तान के खिलाफ हो गया, क्योंकि महात्मा गांधी और नेहरू तो जनता की सत्ता की बात करते हैं जबकि पाकिस्तान उनकी आजादी पर ही हमला कर रहा था। इसके बाद कश्मीर के राजा के पास भारत से मदद मांगने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। महाराजा के प्रधानमंत्री, मेहर चंद महाजन 26 अक्टूबर को दिल्ली भागे। उन्होंने नेहरू से कहा कि महाराजा भारत के साथ विलय करना चाहते हैं, लेकिन एक शर्त भी थी। वह यह कि भारत की सेना आज ही

कश्मीर को मुगल सम्राट अकबर ने 1586 में अपने राज्य में मिला लिया था। उसी दिन से कश्मीरी अपने को गुलाम मानता था और जब 361 साल बाद कश्मीर का भारत में अक्टूबर 1947 में विलय हुआ तो मुसलमान और हिंदू कश्मीरियों ने अपने आपको आजाद माना। इस बीच मुसलमानों, सिखों और हिंदू राजाओं का कश्मीर में शासन रहा लेकिन कश्मीरी उन सबको विदेशी शासक मानता रहा।

कश्मीर पंहुच जाए और पाकिस्तानी हमले से उनकी रक्षा करें वरना वे पाकिस्तान से बात चीत शुरू कर देंगे। नेहरू आग बबूला हो गए और महाजन से कहा 'गेट आउट' बगल के कमरे में शेख अब्दुल्ला आराम कर रहे थे। बाहर आए और नेहरू का गुस्सा शांत कराया। इसके बाद महाराजा ने विलय के कागजात पर दस्तखत किया और उसे 27 अक्टूबर को भारत सरकार ने मंजूर कर लिया। भारत की फौज को तुरंत रवाना किया गया और कश्मीर से पाकिस्तानी शह पर आए कबायलियों को हटा दिया गया। कश्मीरी अवाम ने कहा कि भारत हमारी आजादी की रक्षा के लिए आया है जबकि पाकिस्तान ने फौजी हमला करके हमारी आजादी को रौंदने की कोशिश की थी। उस दौर में आजादी का मतलब भारत से दोस्ती हुआ करती थी लेकिन अब वह बात नहीं है।

कश्मीर का मसला बाद में संयुक्त राष्ट्र में ले जाया गया और उसके बाद बहुत सारे ऐसे काम हुए कि अक्टूबर 1947 वाली बात नहीं रही। संयुक्त राष्ट्र में एक प्रस्ताव पास हुआ कि कश्मीरी जनता से पूछकर तय किया जाए कि वे किधर जाना चाहते हैं। भारत ने इस प्रस्ताव का खुले दिल से समर्थन किया लेकिन पाकिस्तान वाले भागते रहे, शेख अब्दुल्ला कश्मीरियों के हीरो थे और वे जिधर चाहते उधर ही कश्मीर जाता, लेकिन 1953 के बाद यह हालात भी बदल गए। बाद में पाकिस्तान जनमत संग्रह के पक्ष में हो गया और भारत उस से पीछा छुड़ाने लगा। इन हालात के पैदा होने में बहुत सारे कारण हैं। बात यहां तक बिगड़ गई कि शेख अब्दुल्ला की सरकार बर्खास्त की गई और शेख अब्दुल्ला को 9 अगस्त 1953 के दिन गिरफ्तार कर लिया गया। उसके बाद तो फिर वह बात कभी नहीं रही। बीच में राजा के वफादार नेताओं की टोली जिसे प्रजा परिषद् के नाम से जाना जाता था, ने हालात को बहुत बिगाड़ा। अपने अंतिम दिनों में जवाहर लाल ने शेख अब्दुल्ला से बात करके स्थिति को दुरुस्त करने की कोशिश फिर से शुरू कर दिया था। 6 अप्रैल 1964 को शेख अब्दुल्ला को जम्मू जेल से रिहा किया गया और नेहरू से उनकी मुलाकात हुई। शेख अब्दुल्ला ने एक बयान दिया जिसे लिखा, कश्मीरी मामलों के जानकार बलराज पुरी थे। शेख ने कहा कि उनके नेतृत्व में ही जम्मू कश्मीर का विलय भारत में हुआ था। वे हर उस बात को अपनी बात मानते हैं जो उन्होंने अपनी गिरफ्तारी के पहले 8 अगस्त 1953 तक कहा था। नेहरू भी पाकिस्तान से बात करना चाहते थे और किसी तरह से समस्या को हल करना चाहते थे। नेहरू ने इसी सिलसिले में शेख अब्दुल्ला को पाकिस्तान जाकर संभावना तलाशने का काम सौंपा। शेख गए और 27 मई 1964 के दिन जब पाक अधिकृत कश्मीर के मुजफ्फराबाद में उनके लिए दोपहर के भोजन के दौरान पुराने दोस्त मौजूद थे, जवाहरलाल नेहरू की मौत की खबर आई। बताते हैं कि खबर सुन कर शेख अब्दुल्ला फूट-फूट कर रोए थे। नेहरू के मरने के बाद तो हालात बहुत तेजी से बिगड़ने लगे। कश्मीर के मामलों में नेहरू के बाद के नेताओं ने कानूनी हस्तक्षेप की तैयारी शुरू कर दी, वहां संविधान की धारा 356 और 357 लागू कर दी गई। इसके बाद शेख अब्दुल्ला को एक बार फिर गिरफ्तार कर लिया गया। इस बीच पाकिस्तान ने एक बार फिर कश्मीर पर हमला करके उसे कब्जाने की कोशिश की लेकिन पाकिस्तानी फौज ने मुंह की खाई और ताशकंद में जाकर रूसी दखल से सुलह हुई।

कश्मीर के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उसमें से जो भरोसे लायक है, 'कश्मीरनामा' में उसका हवाला लिया गया है। मूल स्रोतों का भी वैज्ञानिक तरीके से इस्तेमाल किया गया है। संस्कृत पर फारसी में भी कश्मीर के इतिहास के बारे में बहुत सारी मूल सामग्री है जिसका अशोक कुमार पांडेय ने सम्यक इस्तेमाल किया है। कुल मिलाकर 'कश्मीरनामा' एक बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है। हिंदी में ऐसी वैचारिक कृतियों का बहुत बड़ा अकाल है।

हिंदी आलोचना का अपना ठाठ

श्रीभगवान सिंह

आलोचक

संपर्क :
102, अंबुज टॉवर,
तिलकामांझी
भागलपुर 812001
(बिहार)
मो. 9801055395

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा दो खंडों में 'साहित्य सिद्धांत विमर्श' नाम से प्रकाशित पुस्तक एक बहुत ही समयोचित प्रकाशन के रूप में सामने आई है। पुस्तक का खंड लगभग छः-छः सौ पृष्ठों का है। इनमें संकलित निबंधों के चयन और संपादन का कार्य किया है प्रसिद्ध समालोचना-लेखिका डॉ. रीतारानी पालीवाल ने। इन दोनों खंडों को पढ़ लेने पर हिंदी आलोचना के उद्भव, विकास एवं परंपरा, सामर्थ्य तथा संभावना का यथेष्ट ज्ञान पाठकों को होगा।

समकालीन हिंदी आलोचना के परिदृश्य में पश्चिम के उत्तर आधुनिकतावाद, विखंडनवाद, घिसे-पिटे मार्क्सवाद और इसी में शामिल नारीवाद के तुमुल कोलाहल में जिस तरह विदेशी लेखकों के मंतव्यों, विचारों की उद्धरणियों की भरमार दिखाई देती है, उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि अब तक की हमारी हिंदी आलोचना बांझ ही रही है जिसने किसी साहित्य-दृष्टि, समीक्षा-सिद्धांत, काव्य शास्त्रीय विमर्श को जन्म नहीं दिया। यह अत्यंत क्षोभकारी एवं दुखदायी परिदृश्य है क्योंकि भारतेंदु काल से भी मानें, तो अब तक हिंदी आलोचना में काव्यशास्त्रीय विमर्श, साहित्य-सिद्धांत, रचना-आस्वाद तथा प्रक्रिया को लेकर इतने सारे लेखन हो चुके हैं जो अन्य भारतीय भाषाओं में लिखित आलोचना से तनिक भी कमतर नहीं है। इस लिहाज से साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा दो खंडों में 'साहित्य सिद्धांत विमर्श' नाम से प्रकाशित पुस्तक एक बहुत ही समयोचित आवश्यक कार्य के रूप में सामने आई है। प्रत्येक खंड लगभग छः-छः सौ पृष्ठों के हैं। इनमें संकलित निबंधों के चयन और संपादन का कार्य किया है प्रसिद्ध समालोचना-लेखिका डॉ. रीतारानी पालीवाल ने। इन दोनों खंडों को पढ़ लेने पर हिंदी आलोचना के उद्भव, विकास एवं परंपरा, सामर्थ्य तथा संभावना का यथेष्ठ ज्ञान पाठकों को होगा।

यह सर्वमान्य हो चुका है कि हिंदी गद्य के सम्यक विकास हो जाने के उपरांत ही हिंदी आलोचना का सूत्रपात हुआ और यह काम हुआ भारतेंदु काल में। कतिपय आलोचक हिंदी आलोचना का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखित निबंध 'नाटक' से मानते हैं। इसीलिए संपादक रीतारानी ने पुस्तक के प्रथम खंड में पहला निबंध भारतेंदु का 'नाटक' ही रखा है। हिंदी समालोचना का पहला ही निबंध माने जाने वाला 'नाटक' आरंभिक अवस्था में ही काफी परिपक्वता एवं समालोचनात्मक अंतर्दृष्टि का परिचय देता है। कायदे से इस निबंध के बाद भारतेंदु मंडल के ही एक अन्य महत्वपूर्ण लेखक बालकृष्ण भट्ट का निबंध 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है' होना चाहिए था। डॉ. रामविलास शर्मा तो इसे ही हिंदी का पहला समालोचनात्मक निबंध मानते हैं किंतु यह निबंध पुस्तक में आने से रह गया। इसका अभाव अवश्य खटकता है। बहरहाल, संपादक ने बहुत परिश्रम करके प्रथम खंड में भारतेंदु से लेकर डॉ. नगेंद्र तक के आलोचनात्मक लेखों को संजो कर प्रस्तुत किया है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंध के बाद निबंधों का जो क्रम है, वह इस प्रकार है-श्याम सुंदर दास का 'कला का विवेचन', अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'रस-निर्देश' और 'रस का इतिहास', महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'साहित्य की महत्ता' और 'नायिका भेद' रामचंद्र शुक्ल का 'कविता क्या है' और 'लोकमंगल की साधनावस्था', बालमुकुंद गुप्त का 'आलोचना-प्रत्यालोचना' और 'भाषा की अनस्थिरता', गुलाब राय का 'साहित्य की मूल प्रेरणाएं' मैथलीशरण गुप्त का 'हिंदी कविता किस ढंग की हो', 'काल-प्रभाकर की आलोचना' तथा 'उमर खय्याम और उनकी कविता'। जयशंकर प्रसाद का 'काव्य और कला' तथा 'यथार्थवाद और छायावाद', सुमित्रानंदन पंत का 'प्रवेश', 'पल्लव की भूमिका' निराला का 'पंत जी और पल्लव' महादेवी वर्मा का 'चिंतन के कुछ क्षण', हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल', 'लालित्य-सर्जना और विविक्तवर्णा भाषा', 'वाकतत्व और विनायक धर्म', प्रेमचंद का 'साहित्य का उद्देश्य' और 'महाजनी सभ्यता', नंददुलारे वाजपेयी का 'साहित्य का प्रयोजनः आत्मानुभूति', तथा 'नवीन यथार्थवाद', नगेंद्र का 'साधारणीकरण' और देवराज का 'काव्य भाषा'। प्रथम खंड में कुल अठारह लेखक और तैंतीस निबंध हैं।

इन आलोचकों में आज के पाठक वर्ग को रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के संबंध में ही अधिक ज्ञात है-'दूसरी परंपरा की खोज' ने भी इन्हीं दोनों को सर्वाधिक चर्चा एवं बहस का विषय बनाया उसकी अनुगूंज अभी तक हिंदी आलोचना में कायम है लेकिन अधिकांश पाठकों को यह पता नहीं कि श्याम सुंदर दास, गुलाब राय, देवराज आदि भी आलोचक रहे हैं। हरिऔध के कवि-कर्म से परिचित रहनेवाले भी उनके आलोचना कर्म को नहीं जान पाते। इसी तरह प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा की चर्चा छायावादी काव्यधारा तक होकर रह जाती है, लेकिन इन कवियों ने एक समय छायावाद के संबंध में उसके विरोधियों द्वारा फैलाई जा रही भ्रांतियों के प्रत्याख्यान हेतु महत्वपूर्ण निबंध लिखे, उसकी तरफ ध्यान नहीं जा पाता, तभी तो आज की पीढ़ी को छायावाद के संबंध में अनाप-शनाप प्रलाप करते हुए देखा जाता है। 1930 के दशक में पंतजी ने

पुस्तक :
साहित्य सिद्धांत विमर्श
(दो खंड)
चयन एवं संपादन :
डॉ. रीतारानी पालीवाल
प्रकाशक :
साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 452
मूल्य : ₹ 500 (प्रति खंड)

'प्रवेश' नाम से 'पल्लव' की भूमिका लिखकर जिस तरह ब्रजभाषा एवं रीतिकालीन सौंदर्य बोध पर बमबारी करते हुए खड़ी बोली हिंदी में गद्य-पद्य लिखने का शंखनाद किया था, वह एक ऐतिहासिक महत्व की चीज है। 'परिमल' की भूमिका में निराला द्वारा मुक्त छंद की हिमायत का भी अपना ऐतिहासिक महत्व है। लेकिन आज के आलोचनात्मक परिदृश्य में ऐतिहासिक महत्व की सारी आलोचनाएं हाशिए पर भी नहीं दिखाई देती। यही नहीं स्वछंदतावादी आलोचक के रूप में पहचान बनाने वाले नंददुलारे बाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी भी आलोचकीय बहस में लगभग भुला-सा दिए गए हैं। इनके आलोचनात्मक लेखन के महत्व को इनके लेखों के माध्यम से सामने लाया गया है। भूमिका में शांतिप्रिय द्विवेदी की चर्चा तो की गई है, लेकिन उनका भी कोई लेख पुस्तक में शामिल नहीं किया गया है। अतएव मानना पड़ेगा कि इन विगत, विस्मृत हो चुके आलोचकों के निबंधों को एक जगह एकत्र कर रीतारानी ने अत्यंत प्रशंसनीय कार्य किया है। इन्हें पढ़कर आज का पाठक हिंदी आलोचना की अपनी देशज संपदा से अच्छी तरह अवगत हो सकेगा। संपादक ने आधुनिक सौंदर्याभिरुचि, साहित्याभिरुचि को ध्यान में रखते हुए पुस्तक में मिश्र बंधु, लाला भगवानदीन, पदम सिंह शर्मा जैसे रीतिकालीन सौंदर्यबोध वाले आलोचकों के लेख न देकर अपनी अभिरुचि का भी परिचय दिया है।

पुस्तक के दूसरे खंड में कुल लेखकों की संख्या पच्चीस है तो आलेखों की संख्या सैंतीस। इसमें पहला लेख रामविलास शर्मा का 'परंपरा का मूल्यांकन' है उसके बाद जिनके लेख हैं वे हैं मुक्तिबोध, अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, विजयदेवनारायण साही, नेमिचंद जैन, विद्या निवास मिश्र, कुंवर नारायण, नामवर सिंह, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, मलयज, रामस्वरूप चतुर्वेदी, निर्मल वर्मा, रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, कृष्णदत्त पालीवाल, नंदकिशोर आचार्य। इस खंड में भी आज के महत्वपूर्ण कवि समालोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, जो साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली के अध्यक्ष बननेवाले प्रथम हिंदी लेखक हैं, का कोई लेख न होना खटकता है। बहराल, इस खंड में संकलित आलेखों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि शुक्लोत्तर काल की हिंदी अलोचना ने अपने को काफी विस्तृत और समृद्ध किया है। वर्षों से हिंदी आलोचना के पाठक मुक्तिबोध बनाम अज्ञेय या फिर मुक्तिबोध बनाम रामविलास शर्मा की बहस में जिस तरह कैद हो गए हैं, उससे उन्हें छुटकारा मिलेगा इस खंड के विभिन्न आलेखों को पढ़ कर।

संप्रति आलोचना के वाद-विवाद संवाद के परिदृश्य में लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त, मलयज जैसे आलोचकों को गुमनामी के अंधेरे में ढकेल

आज हिंदी आलोचना में अंग्रेजी के उद्धरण, विदेशी विमर्शों की चकाचौंध इस कदर परोसे जा रहे हैं कि हिंदी आलोचना का अपना जातीय चरित्र गुम होता जा रहा है। ऐसे में 'साहित्य सिद्धांत विमर्श' नाम की यह पुस्तक बहुत उपयोगी है जिसे पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि हिंदी आलोचना सिर्फ संस्कृत काव्यशास्त्र या पश्चिमी साहित्य-चिंतनों का पुंज नहीं है बल्कि उसका अपना मौलिक ठाठ है जिस पर हिंदी के पाठक गर्व कर सकते हैं और अन्य भाषाओं के साहित्यशास्त्र के अध्ययन से उपजी हीनता-ग्रंथि से छुटकारा पा सकते हैं।

दिया गया है। नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' की तो खूब चर्चा होती रही है लेकिन लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नई कविता के प्रतिमान' लगभग ओझल कर दी गई जबकि इसी पुस्तक ने 'कविता के नए प्रतिमान' की पृष्ठभूमि तैयार की थी। विजयदेव नारायण साही के निबंध 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' ने एक समय हिंदी जगत में विचारोत्तेजक बहस को पैदा किया था, पर वह भी वामपंथी धारा के आलोचकों द्वारा उपेक्षित होता गया। ऐसे आलोचकों के लेखों को संकलित करने का लाभ यह होगा कि पाठक जान सकेगा कि हिंदी आलोचना दो-तीन दिग्गज आलोचकों तक सीमित नहीं है। निस्संदेह दूसरा खंड भी पाठकों को हिंदी आलोचना के विस्तृत फलक से परिचित कराता है। लेकिन यहां भी परिमल मंच से जुड़े एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर रघुवंश का लेख नहीं है। साहित्य सिद्धांत विमर्श के दोनों खंडों (जो लगभग बारह सौ पृष्ठों के हैं) को जो भी धीरज रख पढ़ सकेगा, उसे अच्छी तरह यह ज्ञात हो जाएगा कि हमारी हिंदी आलोचना भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर अब तक संस्कृत काव्यशास्त्र, पाश्चात्य साहित्य चिंतन तथा मार्क्सवाद, संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद, विखंडनवाद आदि आधुनिक पश्चिमी मतवादों के साथ वाद-विवाद संवाद करते हुए किस हद तक अपना मौलिक देशज चरित्र गढ़ने में सक्षम हुई है किंतु आज के इंटरनेट, फेसबुक, सोशल मीडिया की द्रुतगामी दौड़ में इन इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के मुरीदों को शायद ही इतना वक्त मिल सके कि वे दोनों खंडों को आद्योपांत पढ़ सकें। फिर भी, अगर दोनों खंडों की रीतारानी पालीवाल द्वारा लिखी गई भूमिकाओं को पढ़ लिया जाए तो उससे भी हिंदी आलोचना की तारतमिक विकास यात्रा का पर्याप्त ज्ञान हो जाएगा। इन भूमिकाओं की विशेषता यह है कि संपादक ने विभिन्न आलोचकों तथा आलोचना-पद्धतियों को एक-दूसरे की विरोध जन्य प्रतिक्रियाओं के रूप में न देख कर उन्हें एक क्रमिक विकास के रूप में प्रस्तुत किया है। खंडन, उठा-पटक की नकारात्मक प्रवृत्ति के इस दौर में संपादक ने सभी आलोचकों के अवदान के प्रति संतुलित, सकारात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। यों तो सभी आलोचकों की विशिष्टताओं का उल्लेख करना इस छोटे से समीक्षात्मक लेख में संभव नहीं है, फिर भी संपादक द्वारा लिखी गई भूमिकाओं को कुछेक बातों के आलोक में पूरी पुस्तक की अंतर्वस्तु को समझा जा सकता है।

संपादक ने बहुत ईमानदारी एवं तटस्थता से भूमिकाओं में विभिन्न आलोचकों के आलोचना कर्म पर प्रकाश डाला है जिससे हिंदी अलोचना के सुसंगत विकास क्रम को समझने में सहायता मिलती है। मसलन, वे जहां इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं कि ''नए ढंग की सामाजिकता से जुड़े चिंतन ने ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुंद गुप्त, मैथलीशरण गुप्त, प्रेमचंद आदि में रीतिवाद विरोधी अभियान को जन्म देकर आगे बढ़ाया, वहीं इस क्रम में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सर्वथा मौलिक अवदान को इन शब्दों में सामने रखती हैं-''अपनी मौलिक उद्भावनाओं से आचार्य शुक्ल ने हिंदी के मौलिक समीक्षाशास्त्र की दृढ़ नींव रखी। उनकी बौद्धिकता-तार्किक प्रखरता से नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पंडित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नए की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। अपने समय तथा अपने समय से पहले की सैद्धांतिक दृष्टि, रचनाशीलता और रचनात्मक संवेदना से वे गहरी संपृक्ति रखते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की प्रतिभा की मौलिकता, आलोचनात्मक प्रज्ञा की स्वतंत्रता का तेजस्वी रूप यह है कि उस पर संस्कृत अलंकार शास्त्र की रूढ़ियों, पश्चिम आलोचना के प्रतिमानों-मानदंडों का कोई आतंक नहीं है। इस तरह हम आज आचार्य शुक्ल के साहित्यालोचन से हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना का अपना चरित्र ठीक-ठीक पहचान सकते हैं।'' (खंड एक, पृ. 6-7)

आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि को ब्राह्मणवादी, वर्णाश्रम-धर्म के चश्मे से देखने वालों से नितांत भिन्न है यह मूल्यांकन दृष्टि। यही नहीं, दूसरी परंपरा की खोज के नाम पर आचार्य शुक्ल को नीचा दिखाने के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी को ला खड़ा किया गया और द्विवेदीजी की समग्र साहित्य-दृष्टि को उनकी पुस्तक 'कबीर' तक केंद्रित कर दिया गया लेकिन डॉ. पालीवाल इससे भिन्न मार्ग का अनुगमन करती हैं और द्विवेदीजी के समग्र साहित्य-चिंतन को रेखांकित करती हैं - ''आचार्य

द्विवेदी शास्त्र के पंडित हैं लेकिन शास्त्र के बोझ से बचनेवाले, उसकी नई व्याख्या करनेवाले मर्मज्ञ पंडित हैं। वे प्रचीन भारत के कलात्मक विनोद पुस्तक में सौंदर्यशास्त्र-समाजशास्त्र की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो साहित्य-सहचर पुस्तक में काव्यशास्त्र का नया पाठ उठाते हैं। उनके कारण हिंदी में एक नया लोकवादी साहित्यशास्त्र तैयार हुआ है जिसमें परंपरा की अखंडता के भीतर से आधुनिकता फूट रही है।'' (वही, पृ. 9) द्विवेदीजी के महत्व को केवल कबीरपंथी दृष्टि से परखनेवालों को उनके इस समग्र साहित्य-चिंतन को ध्यान में रखना चाहिए जिसमें केवल विद्रोह या अस्वीकार नहीं है बल्कि पुरातनता, परंपरा में भी नवीनता खोजने की अदम्य लालसा है।

गुलाब राय, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल जैसे ओझल हो गए समीक्षकों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए पालीवाल कहती हैं ''गुलाबराय ने सिद्धांत और अध्ययन तथा काव्य के रूप जैसे सैद्धांतिक ग्रंथों का मनोयोगपूर्वक प्रणयन किया। बाबू गुलाब राय ने मनोविश्लेषण शास्त्र की पृष्ठभूमि में अपनी आलोचना दृष्टि का विस्तार किया तथा साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझाने का बड़ा कार्य किया। बाबू गुलाब राय, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं. कृष्णशंकर शुक्ल जैसे आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की चिंतन परंपरा को हिंदी आलोचना में आगे बढ़ाया है।'' फिर देवराज जैसे आलोचक की उपेक्षा के कारण हुए नुकसान की ओर वे ध्यान दिलाती हैं-''हिंदी आलोचना में प्रगतिवादियों ने योजनाबद्ध तरीके से डॉ. देवराज की आलोचना-दृष्टि का तिरस्कार किया है। आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं से प्रभावित डॉ. देवराज ने हिंदी की सैद्धांतिक समीक्षा को तमाम नवीन अवधारणाएं दी हैं। डॉ. देवराज पर गहन विचार-विमर्श के अभाव के कारण हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना को बहुत नुकसान हुआ है। आज उन्हें बदलती हुई स्थिति-परिस्थिति में समझना-समझाना अनिवार्य है तभी नए पाठकों को उनकी चिंतन-दृष्टि का लाभ मिल सकेगा।'' (वही, पृ. 10)

वैसे छायावादी काव्यधारा पर पहले भी बहुत हमले हुए हैं और अब भी हो रहे हैं। छायावाद को संकटग्रस्त सामंतवाद का छलावा या फिर 'पूंजीवादी महत्वाकांक्षा का पूर्वाभ्यास' कहने वाले एकाध आलोचक पैदा हो गए हैं लेकिन छायावाद केवल कविता तक सीमित काव्य-आंदोलन नहीं था बल्कि उसने हिंदी आलोचना के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान किया है जिसे जानने की जरूरत है। रीतारानी छायावाद के आलोचनात्मक अवदान को इन शब्दों में उजागर करती हैं - ''छायावाद की चारों बड़ी सर्जनात्मक प्रतिभाओं ने एक गंभीर मौलिक काव्यशास्त्र के निर्माण का अभियान चलाया। रीतिवादी काव्यशास्त्र से सर्वथा

'साहित्य सिद्धांत विमर्श' नाम की यह पुस्तक बहुत उपयोगी है जिसे पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि हिंदी आलोचना सिर्फ संस्कृत काव्यशास्त्र या पश्चिमी साहित्य-चिंतनों का पुंज नहीं है बल्कि उसका अपना मौलिक ठाठ है जिस पर हिंदी के पाठक गर्व कर सकते हैं और अन्य भाषाओं के साहित्यशास्त्र के अध्ययन से उपजी हीनता-ग्रंथि से छुटकारा पा सकते हैं।

भिन्न हिंदी का यह नया काव्यशास्त्र नए युग के सांस्कृतिक नवजागरण की नई आवाज का प्रभाव और प्रकाश लेकर आया। इन कवियों ने वस्तु एवं रूप के स्तर पर नए काव्यबोध के साक्षात्कार से जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचियों पर प्रहार किया। इन प्रहारों की ताकत से नयी अर्थ-मीमासाएं की जाने लगी।'' (वही, पृ. 11)

पुस्तक के दूसरे खंड में पहला ही लेख मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा के शीर्षस्थ आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के दो लेख हैं। डॉ. शर्मा के लेखन पर इधर उनकी बिरादरी के कॉमरेडों द्वारा ही खूब हमले होने लगे हैं लेकिन समस्त प्रगतिवादी आलोचकों में डॉ. शर्मा का ऊंचा कद है उसकी तरफ संपादक सही संकेत करती हैं-''मार्क्सवादी आलोचकों की सैद्धांतिक दृष्टि को जिस आलोचक ने सर्वाधिक प्रबल ढंग से पाठकों तक पहुंचाया उसका नाम है डॉ. रामविलास शर्मा। अंग्रेजी के इस अध्यापक ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास के लिए दिशा-दृष्टि के लिए मार्क्सवाद मूल चेतना को महत्व प्रतिष्ठा देने में ऋषि मन से अपना पूरा जीवन ही लगा दिया। कहना चाहिए कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, प्रेमचंद और निराला की साहित्य साधना हिंदी आलोचना की अपूर्व उपलब्धियां हैं। उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धांतों का कोरा जाल खड़ा नहीं किया बल्कि उस दृष्टि से साहित्य की समस्त परंपरा का मूल्यांकन 'परंपरा का मूल्यांकन' पुस्तक लिख कर किया। हिंदी आलोचना में 'नवजागरण' की अवधारणा को समग्रता में प्रथम बार प्रस्तुत करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को ही है। (खंड दो, पृ. 8)

प्रगतिवादी धारा से जुड़े मुक्तिबोध, नामवर सिंह के आलोचना कर्म पर भी यथेष्ट संतुलित प्रकाश डालते हुए रीतारानी गैर प्रगतिवादी धारा से संबद्ध अज्ञेय, विजय देवनारायण साही आदि की भी समीक्षात्मक उपलब्धियों को सामने लाने में चूक नहीं करतीं। उनके अनुसार ''पूरी शक्ति से अज्ञेय ने नए साहित्य को प्रतिष्ठित करने के साथ उसके मूल्यांकन के नए प्रतिमानों को केंद्रीय स्थान दिया और इन नए प्रतिमानों से पुराने कवियों के मूल्यांकन की राह भी दिखाई है।'' (वही, पृ. 12) इसी क्रम में वे विजयदेव नारायण साही का महत्व इन शब्दों में रेखांकित करती है-''नई कविता के कवि और सिद्धांतकार विजयदेव नारायण साही ने लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस तथा शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट शीर्षक दो निबंधों से हिंदी की सिद्धांत चेतना को अपूर्व अद्भुत आलोक से भर दिया। उन्होंने अज्ञेय को प्रसादजी की परंपरा से जोड़ते हुए कहा कि यदि परंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है तो अज्ञेय आगे के इतिहासकार को प्रसाद की परंपरा में ही दिखाई देंगे।'' (वही, पृ. 14)

जैसा कि पहले ही निवेदन कर चुका हूं कि पुस्तक के दोनों खंडों में संकलित निबंधों में एक-एक को लेकर उनकी विशिष्टताओं का विवेचन करना इस लघुकाय समीक्षा में संभव नहीं है, इसलिए भूमिका में उल्लेखित बातों के हवाले इन आलोचनात्मक आलेखों के महत्व को सामने रखने का प्रयास किया गया है। सचमुच आज हिंदी आलोचना में अंग्रेजी के उद्धरण, विदेशी विमर्शों की चकाचौंध इस कदर परोसे जा रहे हैं कि हिंदी आलोचना का अपना जातीय चरित्र गुम होता जा रहा है। ऐसे में 'साहित्य सिद्धांत विमर्श' नाम की यह पुस्तक बहुत उपयोगी है जिसे पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि हिंदी आलोचना सिर्फ संस्कृत काव्यशास्त्र या पश्चिमी साहित्य-चिंतनों का पुंज नहीं है बल्कि उसका अपना मौलिक ठाठ है जिस पर हिंदी के पाठक गर्व कर सकते हैं और अन्य भाषाओं के साहित्यशास्त्र के अध्ययन से उपजी हीनता-ग्रंथि से छुटकारा पा सकते हैं। डॉ. रीतारानी पालीवाल ने जिस मनोयोग एवं परिश्रम से यह संचयन तैयार कर एक अत्यंत आवश्यक एवं उपयोगी कार्य को अंजाम दिया है उसके लिए वे सचमुच बधाई एवं साधुवाद की हकदार हैं।

उपन्यास

दुविधाग्रस्त स्त्री की नियति

सत्यकाम

आलोचक

संपर्क :
संपादक 'समीक्षा'
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मैदानगढ़ी, नई दिल्ली - 68
मो. : 9868262626

पुस्तक :
पानी केरा बुदबुदा
चयन एवं संपादन :
सुषम बेदी
प्रकाशक :
किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 167
मूल्य : ₹ 300

अमेरिकी पृष्ठभूमि में लिखा यह उपन्यास अमेरिकी जीवन-शैली में ढले भारतीय संबंधों की पैनी पड़ताल करती है। भारत से बाहर जाकर बसने वाली स्त्रियों की विडंबनापूर्ण स्थिति को सुषम बेदी ने करीब से देखा है और उन्होंने बहुत ही बारीकी से उन संबंधों की रूपरेखा निर्मित की है। अंततः उनका यह मानना है कि स्त्री भी एक मनुष्य है जो संबंधों के बिना अधूरी है, खाली है, परिपूर्ण नहीं है। उसे भी पत्नी, प्रेयसी, मां, दादी बनने में सुख की अनुभूति होती है पर पुरुष उसकी इस भावना को नहीं समझ पाता और उसकी भावनाओं से खेलता है, उसकी अस्मिता को नष्ट करने की भरपूर कोशिश करता है।

यह उपन्यास पढ़कर लगता है भीतर से बिल्कुल खाली हो चुका हूं पर मन भारी है और कई सवाल जवाब ढूंढ़ने के लिए आपस में गुत्थमगुत्थी कर रहे हैं पर शोर के सिवा कुछ सुनाई नहीं दे रहा। उपन्यास की केंद्रीय पात्र पिया के उलझन भरे जीवन को कथाकार जितना सुलझाव की ओर ले जाना चाहती है उलझाव उतना ही बढ़ता चला जाता है। धागों में इतनी गांठें हैं कि उन्हें खोलते-खोलते गांठें और मजबूत होती चली जाती हैं, पर खुलती नहीं। उन्हें सुलझाते-सुलझाते धैर्य टूटने लगता है और धागे कई जगहों से टूटने लगते हैं। मैं महसूस कर रहा हूं कि अभिव्यक्ति अमूर्त होती जा रही है और यही इस कथा का प्रतिफलन और अंततः नियति भी है।

असल में, यह उपन्यास कथाकार के मन में उठे सवालों की कौंध से उपजा है जिसे उसने पात्रों की मानसिकता के धागे से बुना है, काता है, पर धागे हैं कि उलझते ही चले जाते हैं। उलझे धागों से वस्त्र नहीं बनते हैं और बनते भी हैं तो टेढ़े-मेढ़े आकार ही ग्रहण करते हैं। बनते-बिगड़ते रिश्ते टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुजरते हैं और अंततः निराशा के गट्ठर में खो जाते हैं जिसे खोजते-खोजते पात्र और पाठक अंधेरी गलियों में भटकते नजर आते हैं।

यह उपन्यास एक स्त्री (पिया) की अपनी अस्मिता की तलाश में दर-दर भटकता और भटकाता है। कथाकार के मन में अनसुलझे प्रश्नों से निःसृत यह कथा स्त्री-पुरुष संबंधों को नए अंदाज में देखने और परोसने की कोशिश करती है। स्त्री कौन है? स्त्री क्या है? क्या स्त्री पुरुषविहीन जिंदगी जी सकती है? क्या स्त्री अपनी 'आजादी' से खुश है? जब वह 'आजाद' होने का प्रयास करती है तो उसे खालीपन क्यों महसूस होता है? बार-बार पुरुषों से प्रताड़ित और निष्कासित होने के बाद उसी ओर क्यों लौटना चाहती है? सारे संबंधों को तोड़ने के प्रयास में वह खुद टूटती है और उसे सुख मिलता है प्रेयसी बनने में, पत्नी बनने में, पुत्र की मां बनने में, दादी बनने में। क्या स्त्री इन सबके बिना अपना अस्तित्व निर्मित नहीं कर सकती? इस उपन्यास के अनुसार तो बिल्कुल नहीं।

पिया 'आजाद' जिंदगी की खोज में दर-दर भटकती है। वह जानती है कि ''ये लोग घबराते हैं एक आजाद औरत के साथ बंधने से।'' वह जानती है कि ''सवाल उठाने वाली, बहस करने वाली औरत इनको शादी के लिए रास नहीं आती।'' वह अपने आप से यह सोचकर जूझती रहती है कि ''क्या शादी की औपचारिकता ही किसी रिश्ते को सार्थक बनाती है।''

वह जानती है कि ''कितने बेमानी हैं ये रस्मोरिवाज''। पर यह जानते हुए भी वह उन्हीं बेमानी औपचारिकता की ओर दौड़ती है और बार-बार मुंह के बल गिरने पर भी बाज नहीं आती।

पिया एक दुविधाग्रस्त स्त्री है और उसकी यह दुविधा उसके पराजय का कारण है। वह एक ओर आधुनिकता का 'परेवा' बनकर उन्मुक्त आकाश में उड़ना चाहती है और 'शिकारी आएगा जाल बिछाएगा, जाल में फंसना नहीं' का जाप करती हुई भी शिकारी के बिछाए जाल में फंसती है और जाल लेकर इधर-उधर ढूंढ़ती फिरती है कि कोई उसके जालों को कतर दें। वह अपना अस्तित्व और अंजाम ढूंढती फिरती है अपने पुत्र रोहन में और अपने

पुरुष मित्रों/प्रेमियों में जिनके लिए 'सेक्स' ही संबंधों की नींव है। पिया प्यार खोजती फिरती है पर यह उसे कभी नहीं मिलता। पति से वह तलाक ले चुकी है। अनुराग और निशांत में वह खोई हुई खुशी पाना चाहती है। वह खुद मनोचिकित्सक है पर अपना ही मन समझ नहीं पाती।

अजीब दुनिया है इस उपन्यास में। सब (खासतौर पर पुरुष) अपनी जिम्मेदारियों से भाग रहे हैं। उनके लिए संबंध बस उन्मुक्तता में है, बंधने में नहीं और यहीं से रिश्तों की जटिलता पैदा होती है। पिया कभी आधुनिक लगती है, कभी रीतिकालीन नायिका के समान बिसुरने लगती है। कभी ठेठ भारतीय मां की तरह अपने बेटे की ओर मातृत्व की खोज में दौड़ती है।

मनुष्य अपने को अंधेरे में रखकर खुश रहना चाहता है। पिया का जीवन इसका जीवंत उदाहरण है। वह लगातार एक आशियाने की खोज में लगी है। इस खोज में कभी वह अनुराग के पास जाती है तो कभी निशांत के पास। वह पेंडुलम की तरह रबड़ की गेंद की तरह, शटल कॉर्क की तरह, फुटबाल की तरह, इधर से उधर फेंकी नजर आती है पर कोई उसे शरण नहीं देता। फिर भी वह उनकी ओर दौड़ती है। 'रोमांस, सेक्स और शांति' में से उसे कुछ नहीं मिल पाता। अंततः वह एक आधी-अधूरी रह जाती है मानो स्त्री की यही नियति है।

पिया पुरुष-सत्तात्मकता के दायरे से जितना बाहर निकलना चाहती है उसके प्रति उसका आकर्षण उतना ही बढ़ता चला जाता है। ललिता पनिक्कर का एक लेख पढ़ा था More to women then being Betis & Biwis, जिसमें उन्होंने स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता की बात की है पर इस उपन्यास में स्त्री होने के साथ-साथ पिया बेटी, बीवी और मां बनने के लिए अपने व्यक्तित्व को दांव पर लगा देती है।

अमेरिकी पृष्ठभूमि में लिखा यह उपन्यास अमेरिकी जीवन-शैली में ढले भारतीय संबंधों की पैनी पड़ताल करती है। भारत से बाहर जाकर बसने वाली स्त्रियों की विडंबनापूर्ण स्थिति को सुषम बेदी ने करीब से देखा है और उन्होंने बहुत ही बारीकी से उन संबंधों की रूपरेखा निर्मित की है। अंततः उनका यह मानना है कि स्त्री भी एक मनुष्य है जो संबंधों के बिना अधूरी है, खाली है, परिपूर्ण नहीं है। उसे भी पत्नी, प्रेयसी, मां, दादी बनने में सुख की अनुभूति होती है पर पुरुष उसकी इस भावना को नहीं समझ पाता और उसकी भावनाओं से खेलता है, उसकी अस्मिता को नष्ट करने की

एक स्त्री का 'पानी केरा बुदबुदा' जीवन का चित्रण ही इस उपन्यास का प्रतिपाद्य है, जिसे सुषम जी ने बड़े करीने से पेश किया है। उपन्यास की हिंदी कभी हिंग्लिश, कभी अनुदित हिंदी, कभी कृत्रिम हिंदी, कभी स्वाभाविक बोलचाल के बीच हिचकोले खाती हुई भी पठनीय कृति बन पड़ी है। भारत की पढ़ी-लिखी युवतियों को भी इस दुविधा का शिकार होना पड़ रहा है, अतः यह आज भारतीय नगरीय यथार्थ से भी जुड़ता है।

भरपूर कोशिश करता है।

पिया के बेटे रोहन की कहानी दिलचस्प है। इस कहानी को समेटने के पीछे सुषम बेदी का नजरिया साफ नजर आता है कि भारत से गई पहली पीढ़ी में दुविधा है क्योंकि वह परंपरा और संस्कार से बद्ध है। पर नई पीढ़ी की दृष्टि साफ है कि हमें अपनी जिंदगी अपनी शर्तों पर जीनी है। रोहन आजाद ख्याल का है। उसका चरित्र एक मानवीय और संवेदनशील युवक के रूप में विकसित होता है। उसके जीवन में भी झटके हैं। वह परिव्यक्त मां-बाप का बच्चा है। उसका भी प्रेम-विच्छेद होता है। वह दो बच्चों की ऐसी महिला से प्रेम करता है जो बाद में कैंसर से ग्रस्त हो जाती है और मर जाती है। पर इसमें उसका सेवाभाव जागृत होता है। उसका प्रेम 'प्लुटोनिक' है, शारीरिक नहीं। वह अंतिम क्षण तक अपनी प्रेमिका के साथ रहता है।

पर रोहन लड़का है, लड़की नहीं। इसलिए रोहन की स्थिति अलग है पिया की अलग- अमेरिका में भी- शायद इस कहानी से सुषम जी यही दिखाना चाहती हों। अंततः एक स्त्री का 'पानी केरा बुदबुदा' जीवन का चित्रण ही इस उपन्यास का प्रतिपाद्य है, जिसे सुषम जी ने बड़े करीने से पेश किया है। उपन्यास की हिंदी कभी हिंग्लिश, कभी अनुदित हिंदी, कभी कृत्रिम हिंदी, कभी स्वाभाविक बोलचाल के बीच हिचकोले खाती हुई भी पठनीय कृति बन पड़ी है।

भारत की पढ़ी-लिखी युवतियों को भी इस दुविधा का शिकार होना पड़ रहा है, अतः यह आज भारतीय नगरीय यथार्थ से भी जुड़ता है। उषा प्रियवंदा से सुषम बेदी तक की 'नायिकाओं' की यात्रा कमोबेश एक जैसी है जहां अस्मिता और संस्कार एक-दूसरे से टकराते हैं जहां सब ओर से स्त्री ही लहूलुहान होती है।

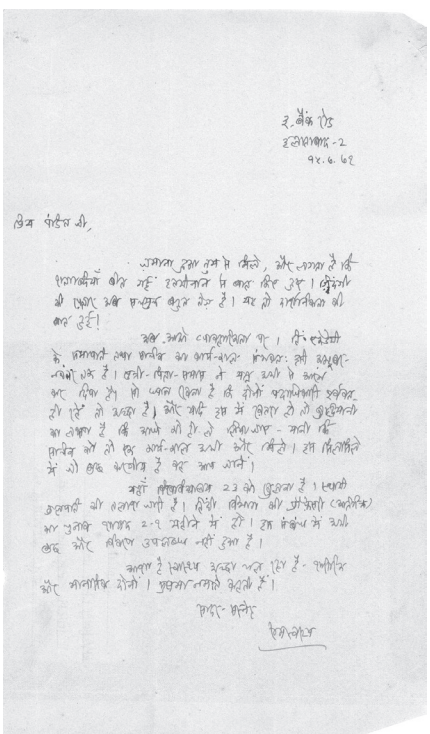

पं. विद्यानिवास मिश्र को लिखा गया पत्र महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में संरक्षित है।

कहानी

शब्द-शब्द निःशब्द का आख्यान

आनंद भारती

साहित्यकार

संपर्क :
401, रवी बिल्डिंग, रावी चिनाब हाउसिंग सोसाइटी, जागिड सोसाइटी, सिल्वर पार्क के समीप, मीरा रोड-401107, मुंबई
मो. 7972050767

शर्मिला की कहानियां महानगरीय बोध से आच्छादित हैं लेकिन महानगरों में रहने वालों की पीड़ा, उसके सुख-दुख, उसकी अपनी सीमा का जिस बारीकी से बयान किया है, वह बेचैन करने जैसा है। तब महानगर हमें अपने गांव की ओर लौटा लाता है जो दुखों के मायाजाल से त्रस्त है। शर्मिला संकेत में यह कहने में कामयाब होती है कि मृगतृष्णा हमें भटकाती है, विपथगामी बनाती है और चैन के साथ जीने से दूर ले जाती है। उनकी हर कहानी में संताप भी अपनी गरिमा के साथ गुजरता है लेकिन संघर्ष से कहीं भी पलायन नहीं है। लेखिका चूंकि सच के साथ है इसलिए हर बात खुलकर और आजादी के साथ कहने का साहस रखती है। संभव है कि कहीं-कहीं वह आपको उबासी भी दे लेकिन वह खुद से निर्वासित नहीं होने देगी। हां, निर्वासन की पीड़ा को महसूस कराती रहेगी। एक-एक शब्द मथेगी, परेशान करेगी और समय और संसार को नए सिरे से समझने के लिए बाध्य करेगी। आप उनके नजरिए से कुछ जगहों पर असहमत हो सकते हैं लेकिन आप उसे छोड़कर भाग नहीं सकते।

पुस्तक :
राग-विराग और अन्य कहानियां
लेखक :
शर्मिला जालान
प्रकाशक :
वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ : 159
मूल्य: ₹ 280

शब्दों और परिस्थितियों को नचाने की कला जिसे आती है, वह हास्य-व्यंग-बोध कराने में माहिर हो जाता है। वह मुस्कान के माध्यम से चिंता से परिचित कराता है और अपनी धार से तिलमिला देने की कूबत रखता है लेकिन जो उसे दिल और दिमाग की संवेदना से रचता-बुनता है वह आइने की शक्ल ले लेता है। उस आइने में न केवल आप खुद को देख सकते हैं बल्कि उसे घुमा घुमा कर बाकी दुनिया को भी उसका चेहरा दिखा सकते हैं। बात इतनी सी है कि जो खुद की नजर में कहानी न हो वह किसी और की कहानी कह ही नहीं सकता है। हममें अगर दुनिया को देखने की चाह है तो उसकी शुरुआत खुद को देखने से करनी पड़ेगी। हर आदमी खुद में एक प्रयोगशाला है। उसके अंदर ही तरह तरह के केमिकल हैं जिन्हें हम उपयुक्त मात्रा में मिलाकर या तो किसी शक्ति का 'निर्माण' कर सकते हैं या 'संहार' का प्रत्याखान कर सकते हैं। शर्मिला जालान की पुस्तक 'राग विराग और अन्य कहानियां' पढ़ते हुए यही कुछ खयाल सामने आ गया।

आप किसी से सहमत हो या नहीं, यह कहानी की चिंता नहीं होती है, उसे तो बस चेहरा दिखाना और चौंकन्ना करना होता है। यह कि हम किस दुनिया में रह रहे हैं और हमारी सोच की जमीन क्या है? शर्मिला की कहानियों की एक खासियत है कि वह आपको शब्द-शब्द पढ़ने के लिए विवश करेगी और क्लाइमेक्स तक पहुंचते पहुंचते निःशब्द कर देगी। यह निःशब्द होना निर्विचार होने की तरह ही है। निर्विचार का मतलब विचारहीन हो जाना नहीं है बल्कि विचार की यात्रा शुरू कर उसकी गहराई में पैठ जाना है। यह यात्रा 'जहां न जाए रवि, वहां जाए कवि' के रूपक जैसा है। यह आज के स्त्री लेखन की एक बड़ी खासियत भी है। उसका अनुभव-संसार पुरुष लेखकों से बहुत मायने में बड़ा और संवेदना से भरा हुआ है। आज भी अधिकांश पुरुष लेखन में जाने-अनजाने आग्रहों और मर्दानगी का असर दिखाई देने लगता है और उसकी कोशिश होती है कि उसे उसी रूप में स्वीकारा जाए लेकिन स्त्री लेखन चुपके से ऐसी कुछ बात कह जाती है जिसका थोपने की प्रवृत्ति से ज्यादा रिश्ता नहीं होता। शर्मिला के लेखन को उस छाया में देखा जा सकता है। वह जब किसी प्रसंग को बुनती हैं तो 'भरोसे' का दृश्यबंध रचती चलती है। इनके बारे में प्रयाग शुक्ल की टिप्पणी मायने रखती है, ''शर्मिला के लेखन की विशेषता यह है कि वह 'वास्तविकता' को भेदने की क्षमता रखती है, और जो 'मनडेन' है, रोजमर्रा का कोई साधारण प्रसंग या विवरण है, उसके सहारे वह बात को दूर तलक ले जाती है, कुछ इसी भाव से कि 'बात निकलेगी तो फिर दूर तलक जाएगी।''

इसमें कोई शक नहीं कि सच हमेशा अपने तेवर के साथ ही रहता है। उसके भीतर कोई फ्रस्ट्रेसन नहीं होता है। किसी के साथ अनचाहा समझौता नहीं करता है। वह 'जो है सो है', का बोध कराते रहता है। यही वजह है कि सच आज भी जिंदा है। हालांकि लोग उसे हर रोज अपने-अपने हथियारों से पंगु बनाने और मारने की कोशिश करते हैं लेकिन वह विषपान करते हुए भी अपने अमृत-कलश को संभाले रखता है। इसी सच का एक रूप है शर्मिला जालान का लेखन। वह चाहे व्यक्ति की कहानी कहती हो या परिवार और संसार की, उसकी बुनियाद में 'करुणा' का पानी बहता रहता है। यह 'बुद्धमार्ग' जैसा है जो अपने समय की मूल्यहीनता की

पहचान कराने के साथ-साथ उम्मीदों को भी जीवित रखने का संकल्प देता है। शर्मिला भी अपनी सोच और लेखकीय कौशल से एक नए संसार की रचना करने का आमंत्रण देती हैं।

'चारुलता' कहानी में संकेत है कि आदमी स्वभाव से ही प्रेमी होता है। प्रेम में होना किसी बीमारी का लक्षण नहीं है, मनुष्यता का विस्तार है। लेकिन चारुलता का जीवन जब आगे बढ़ता है और अनुभवों से पाला पड़ता है तो महसूस होने लगता है कि इस रास्ते में न जाने कितने पत्थर बिछे हुए हैं। तब वह कहने लगती है कि प्रेम मत करना लेकिन अपनी उम्र के अंतिम पड़ाव में अपने मन ही मन में कहती है कि भला इस रोग से भी कोई मुक्त हो सका है। चारुलता जमाने के ताने से उपजी व्यथा को सुनती सहती हुई भी अपनी उम्मीद को बचाए रखती है। यह एक संदेश की तरह है प्यार करो तो जी भर कर करो। जो प्रेम को रोग कहते हैं, उसकी परवाह मत करो। अगर यह रोग है तो भी इसे संभालकर रखो क्योंकि प्रेम का मार्ग ही मुक्ति और आजादी का मार्ग है।

इसी तरह 'राग विराग' में लेखिका ने उदासी को बेहद आत्मीय ढंग चित्रित किया है। यह एकालाप से शुरू होती है कि मैं बहुत उदास हूं। जब भी वह नायिका कभी खुशी के क्षण में पहुंचती है तो उसे याद आता है कि वह तो उदास है लेकिन उसके अंदर जो करुणा का भाव है, वह व्यथित कर देने के लिए लाचार कर देता है। वह खुद भी जब अपनी मां के रूखे-सूखे जीवन में झांकती है तो वहां मरूस्थल दिखाई देने लगता है और वह रो पड़ती है। दरअसल यह उदासी जीवन को देखने और उसकी पड़ताल के लिए प्रेरित करती है। 'फासला' में जतन से पढाए और संवारे गए बेटे की प्रकृति का रूपांतरण है। दोनों बेटे कोलकाता से बाहर नौकरी कर रहे हैं। एक विदेश में और दूसरा मुंबई में। पिता को दोनों का दीवाली में आने का इंतजार है लेकिन एक बेटा पहले ही अगले साल आने की बात कह देता है और मुंबई में रह रहा दूसरा बेटा आखिरी वक्त में आने से मना कर देता है। वह अपनी पत्नी मल्लिका के कहने पर यूरोप घूमने का प्लान सुना देता है क्योंकि मल्लिका के मम्मी-पापा भी जा रहे हैं। वह इंतजार फासले में बदल जाता है।

शर्मिला की कहानियां महानगरीय बोध से आच्छादित हैं लेकिन महानगरों में रहने वालों की पीड़ा, उसके सुख-दुख, उसकी अपनी सीमा का जिस बारीकी से बयान किया है, वह बेचैन करने जैसा है। तब महानगर हमें अपने गांव की ओर लौटा लाता है जो दुखों के मायाजाल से त्रस्त है। शर्मिला संकेत में यह कहने में कामयाब होती है कि मृगतृष्णा हमें भटकाती है, विपथगामी बनाती

हममें अगर दुनिया को देखने की चाह है तो उसकी शुरुआत खुद को देखने से करनी पड़ेगी। हर आदमी खुद में एक प्रयोगशाला है। उसके अंदर ही तरह-तरह के केमिकल हैं जिन्हें हम उपयुक्त मात्रा में मिलाकर या तो किसी शक्ति का 'निर्माण' कर सकते हैं या 'संहार' का प्रत्याखान कर सकते हैं। शर्मिला जालान की पुस्तक 'राग विराग और अन्य कहानियां' पढ़ते हुए यही कुछ खयाल सामने आ गया।

है और चैन के साथ जीने से दूर ले जाती है। उनकी हर कहानी में संताप भी अपनी गरिमा के साथ गुजरता है लेकिन संघर्ष से कहीं भी पलायन नहीं है। लेखिका चूंकि सच के साथ है इसलिए हर बात खुलकर और आजादी के साथ कहने का साहस रखती है। संभव है कि कहीं-कहीं वह आपको उबासी भी दे लेकिन वह खुद से निर्वासित नहीं होने देगी। हां, निर्वासन की पीड़ा को महसूस कराती रहेगी। एक-एक शब्द मथेगी, परेशान करेगी और समय और संसार को नए सिरे से समझने के लिए बाध्य करेगी। आप उनके नजरिए से कुछ जगहों पर असहमत हो सकते हैं लेकिन आप उसे छोड़कर भाग नहीं सकते।

लेखक ने 'औरत', 'एक अलग उजास में' या 'राग विराग' में स्त्रियों की पीड़ा का दर्शन कराया है। इनमें स्त्रियों की कमजोरियों को इशारे-इशारे में सांस्कृतिक आघात के रूप में दिखाया है और यह भी कि पुरुषों की परंपरागत दृष्टि ने स्त्री-अस्मिता को स्थापित होने से वंचित ही नहीं रखा है बल्कि रोका भी है। 'औरत' में एक जली हुई औरत को देखकर शीला अनायास कह जाती है कि 'कोई भी पुरुष इस अवस्था में क्यों नहीं पाया जाता?' उसके तत्काल बाद साथ चल रहा भतीजा पुलक आशंका जाहिर करता है कि 'अगर उसे जलाया गया है तो वह जरूर वेश्या होगी।' उस छोटे से बालक पुलक की यह आशंका सुनी सुनाई बातों के आधार पर है। मतलब, कोई भी औरत जली या जलायी जाती है तो उसके साथ उसके लांछन भी चलते हैं। वह अंदर से कितना भी स्वच्छ क्यों न हो, शक की ऊंगलियां उसपर उठी ही रहती है। 'एक उजली शुरुआत' में बाल मनोविज्ञान को बहुत सलीके से रचा गया है। अनन्या 'कंसट्रेशन डिसऑर्डर' की शिकार है। उसे प्यार और सहयोग की जरूरत है। यह काम मिसेज आब्दानी करती है और वह अनन्या के साथ-साथ उसके चिंतित माता-पिता की भी काउंसिलिंग करती है। वह समझाती है, ''अनन्या अलग तरह की लड़की है। बहुत संवेदनशील। उसके मन के अंदर कई तहखाने हैं। आपलोगों को उसमें उतरना होगा। एक के बाद एक कई दरवाजे खोलकर उसके मन की गहराइयों में उतरकर उसके अंदर की बातें निकालनी होगी। वहां क्या दबा हुआ है, कुरेदना होगा। उसके मन को स्वच्छ और पारदर्शी बनाना होगा।'' यह कहानी हर मां बाप को पढ़ानी चाहिए।

'एक अलग उजास में' कैंसर से हार रही मां कहती है, ''देखो, मेरा शरीर बदल रहा है। मुझे तो इसके अंदर ही रहना है। मैं और मेरा शरीर, दोनों अंतरंग साथी हैं। यह क्यों मेरी बात नहीं सुनता? पहले तो जो कहती थी सुनता था पर मैंने इसकी कहां सुनी। इसे भुला दिया।'' यह उस औरत की व्यथा है जिसने अपना पूरा जीवन परिवार के लिए झोंक दिया। अपनी परवाह के लिए उसे समय ही नहीं मिला। ऐसे समय में जब मौत की छाया आंखों के सामने डोल रही है, परिवार की चिंता में ही घुली हुई है। मरने के पहले जो मृत्यु पत्र लिखती है वह सारी चेतना को खंगालकर रख देती है। वह लिखती है ''मैं मुक्त कर रही हूं उन सभी जो मुझसे तन और मन से जुड़े हुए हैं। बहुत समय गुजर गया। घर, अस्पताल, दवा-दारु में, अब यह सब झंझट नहीं होगा।'' इसे पढ़ते हुए आप निश्चित तौर पर अपने-अपने घर पहुंच जाएंगे। यह कहने में लेखिका ने चमत्कार का भाव नहीं दिया है लेकिन आपकी रूह कांप जाएगी।

आप किसी कारण से ही सही, शर्मिला के लेखन की सादगी का कायल होने से भले बचते रहें लेकिन जब आप अकेले में बैठ कर उनके अनुभवों को मन के परदे पर देखने-समझने की कोशिश करेंगे तो पता चलेगा कि तटस्थ होकर समाज की गलियों, परिवार के आंगन और व्यक्ति के मन में झांकने और उसे समझने की कला कितनी दुरूह होती है। उनके शब्द-बोध अलग, कहने के अंदाज अलग और अहसास अलग। शर्मिला जालान को पढ़ते हुए पता चलता है कि उनकी नजर कितनी पैनी है। बात-बात में ही हर चरित्र के बारे में बड़ी बातें कह जाना, यह उनकी मेधा की पहचान है। 'पीड़ा और प्रार्थना' की मीनाक्षी एक मूर्तिकार से पूछती है कि काका! जो लोग मूर्तियां खरीदते हैं, पूजा करते हैं, बाद में उसे गंगा में कैसे प्रवाहित कर देते हैं? तो इसके जवाब में वे जो कहते हैं, वह उनकी पीड़ा के रूप में सामने आता है। वे कहते हैं, 'उनकी बात तो समझ में आती है क्योंकि उनका प्रतिमा के साथ संबंध तीन-चार दिनों का होता है पर सोचो, तब मेरी हालत क्या होती होगी जब मैं मूर्तियों को खरीददार के हाथ में सौंपता होऊंगा, क्या कोई समझ सकता है?' सजीव हो या निर्जीव के साथ, रिश्तों की यह जो बुनावट और अंतरंगता है, वह किस तरह परेशान करती है। विज्ञान यहां तक नहीं पहुंच सकता है, सिर्फ मनोविज्ञान के वश की बात है।

यह हर लेखक की कसौटी होती है कि वह अपने कथानक और पात्रों के सुख- दुख का संप्रेषण भावप्रवण ढंग से करे और पाठकों को प्रफुल्लित और विचलित करने का माद्दा रखे। खुद के साथ बहाए। शर्मिला के लिए भी यह आसान नहीं रहा होगा लेकिन यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि उन्होंने बहुत सावधानी से एक मनोविश्लेषक की तरह स्थितियों का विवेचन किया है। 'बारिश में कॉफी' की मंजरी अपने पति की अनुपस्थिति में एक दुकानदार के सम्मोहन में पड़ जाती है। वह उसे अच्छा लगने लगता है। मंजरी को महसूस होता है कि दुकानदार उसके पति राजेश बाबू से ज्यादा खयाल रखने वाले आदमी हैं। उसके आमंत्रण पर एक दिन वह एक कॉफी हाउस तक पहुंच जाती है लेकिन वहां पता चलता है कि वह शादीशुदा है। अपनी पत्नी के बारे में जब वह राय व्यक्त करता है कि ''औरतों को इतनी छूट नहीं देनी चाहिए। उनका जीवन रसोई तक ही है। वे तो बस शृंगार तक ही रहे तो अच्छा है।'' तो मंजरी का तत्काल मोह भंग हो जाता है और फिर कभी नहीं मिलने का फैसला कर चली जाती है। उसे समझ में आ जाता है कि पुरुष घर में कुछ और होता है और बाहर कुछ और। उसका स्वभाव छलिया होता है। लेखिका ने सीधे किसी पर कोई आरोप नहीं लगाया है, वह परिस्थिति में झांककर एक मुकाम पर जाती है। 'समझ' कहानी में यह संकेत साफ तौर पर दिखाई पड़ता है कि हर मर्द का दूसरे घर की लड़कियों के बारे में अलग-अलग रागात्मक संबंध होते हैं। सुषमा ने अपने एक अंकल के अनुभव से जाना कि हर मर्द जवान होती लड़कियों पर कामुक नजरें गड़ाए रहते हैं। इस परिधि से उसके पिता भी बाहर नहीं हैं। 'सुरंग' एक स्त्री की दशा-दिशा का आख्यान है। उसका इतना कहना ही सच को सामने ला देता है कि ''क्या करे कोई। कहीं कोई सौंदर्य नहीं। सब कुछ इतना कष्टमय क्यों है?''

लेखिका ने आसपास की जिंदगी को बहुत करीब से देखा है। हर उम्र वालों की मानसिकता, हर वर्ग की विसंगतियों और हर घर की दुविधाओं ने इन्हें लिखने के साधन मुहैया कराए हैं। अगर किसी ने लिखने के लिए मजबूर किया है तो वह है लेखिका के भीतर का मनुष्य। इसी मनुष्यता की तलाश आज हो रही है। शर्मिला जालान अपने कथा संसार को भी उसी तरफ ले जाने का प्रयास करती हैं ताकि बेहतर दुनिया की खिड़की खुल सके और परास्त होता आदमी अपनी प्रार्थना को अर्थ दे सके।

लेखिका ने आसपास की जिंदगी को बहुत करीब से देखा है। हर उम्र वालों की मानसिकता, हर वर्ग की विसंगतियों और हर घर की दुविधाओं ने इन्हें लिखने के साधन मुहैया कराए हैं। अगर किसी ने लिखने के लिए मजबूर किया है तो वह है लेखिका के भीतर का मनुष्य। इसी मनुष्यता की तलाश आज हो रही है। शर्मिला जालान अपने कथा संसार को भी उसी तरफ ले जाने का प्रयास करती हैं ताकि बेहतर दुनिया की खिड़की खुल सके और परास्त होता आदमी अपनी प्रार्थना को अर्थ दे सके। पुस्तक की भूमिका में जयशंकर ने लिखा है कि ''मुझे इन कहानियों से गुजरते हुए यह महसूस करना अच्छा लगता है कि इनका लेखक अपने लिखने में जितना चिंतित जीवन जगत के नैतिक आयामों के प्रति जान पड़ता है उतना ही जीवन और साहित्य के सौंदर्यात्मक आयामों के लिए भी अपनी चिंता और जागरूकता बनाए रखता है। शर्मिला जालान की कहानियों में ये दोनों मनोभाव, ये मानवीय तत्व निरंतर अपनी उपस्थितियां बनाए रखते हैं।'' यह तो नहीं कहा जा सकता है कि लेखिका के इस संग्रह में कालजयी रचना ने आकार लिया है लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'काल' को कटघरे में खड़ा करने का साहस दिखाया है। उसमें कोई आग्रह-दुराग्रह नहीं है।

संग्रह में सत्रह कहानियां हैं जो किसी न किसी पत्रिका में छपी हुई हैं लेकिन यहां उनकी एकजुटता दर्शनीय हैं, इसलिए कि सभी एक-दूसरे के समर्थन में दिखाई पड़ती हैं। 'दुनिया के मजदूरो एक हो' जैसा तो नहीं है लेकिन सबकी उपस्थिति उम्मीद की किरण का आभास देती है कि समय बदलेगा। हर शब्द कुछ कहते-कहते अचानक निःशब्द हो जाता है और दूर कहीं से कुछ बजने लगता है। अगर आप मौन-जैसे उन शब्दों और संवादों पर गौर करें तो पता चलेगा कि समय और समाज का यथार्थ क्या है। उसकी बानगी देखिए -

- 'समझ' कि सुषमा अपने ही पापा से कहती है, 'हाथ मत लगाइए, मैं।'
- 'राग-विराग' की उदास लड़की सोचती है, 'मां की शादी के तीस साल पूरे हो गए। इतने समय के बाद भी मां घर के मर्दों के बीच क्या अपनी जगह बना पायी है?'
- 'औरत' का बच्चा पुलक जब अपनी बुआ से पूछता है कि उस औरत को क्यों जलाया गया तो बुआ जवाब देती है- 'वह औरत है इसलिए।'
- 'प्रार्थना' में कैंसरग्रस्त मां के बारे में एक पंक्ति है, 'मां के हाथों से मां का शरीर फिसला जा रहा है। वह एक बच्चे की तरह हो गई हैं।'
- 'मरूस्थल' का एक प्रसंग है कि 'हर समय यही सोचता रहा कि स्त्रियों का कोई मन नहीं होता। वह मन जो अपनी मर्जी से कुछ करना चाहे।'
- 'घर बाहर' में नीला के अंदर से निकला कि 'एक बड़ी दुनिया को उसे जानना है। यह जानना ही तो घर में, घर की हवा के विरुद्ध एक षड्यंत्र है।'
- 'एक अलग उजास' की कैंसरग्रस्त मां अपनी चिंता व्यक्त करती हैं, 'चार साल से पड़ी हूं। उलझी हुई हूं। ना दवा खत्म होती है ना बीमारी।'
- 'एक उजली शुरुआत' में 'कंसंट्रेशन डिसऑर्डर' की शिकार अनन्या के बारे में एक आशा दिखाई गई है कि 'वह भी उड़ना चाहती है। वह भी उड़ सकती है। ऊंचाइयों को न छुए, विचरण तो कर ही सकती है। आकाश को देख तो पा सकती है। खुली हवा में सांस तो ले सकती है।'

कविता

समय में हस्तक्षेप की कविताएं

कृष्ण प्रताप सिंह

पत्रकार

संपर्क :
5/18/35
बछड़ा सुल्तानपुर मुहल्ला
फैजाबाद-224001(उ.प्र.)
मो. 09838950948

ध्रुव की कविताओं की समस्या यह नहीं है कि वे गूंगी हैं या कि बोलती नहीं हैं। इसके विपरीत कई बार वे बहुत ज्यादा बोल जाती हैं या कि बोलती ही चली जाती हैं। उनका कवि है कि जैसे उनके संदेशों को लेकर आश्वस्त नहीं हो पाता कि वह उन्हें पाठकों तक ठीक से संप्रेषित कर पा रहा है या नहीं, इसलिए उनके खुलासे के क्रम में शब्दों का इतना अपव्यय कर डालता है कि बात न सूक्त रह जाती है, न भाष्य। मामला दोनों के बीच फंसकर सपाटबयानी या कि विवरणात्मकता तक चला जाता है, जबकि कई मायनों में प्रगल्भता एक बड़ा काव्यगुण है और पाठकों के चित्त को आकर्षित करने में भी उसकी कुछ कम भूमिका नहीं।

छिपाऊंगा नहीं, ध्रुव शुक्ल के गत वर्ष प्रकाशित कविता-संग्रह 'सुनो भारत' को मैंने, यकीनन, उसके शीर्षक के कारण, इस पूर्वाग्रह के साथ पढ़ना शुरू किया था कि कहीं न कहीं यह दलित कवि मलखान सिंह के बहुचर्चित कविता-संग्रह 'सुनो ब्राह्मण' से प्रभावित या उसकी शृंखला में होगा। बहुत संभव है, ऐसे सवालों और जवाबों की शक्ल में, जिसकी 'परंपरा' इधर, कम से कम अपनी हिंदी में, तेजी से समृद्ध होती जा रही है लेकिन इसकी शीर्षक-कविता से गुजरते-गुजरते मेरा समाधान हो गया कि इसकी परंपरा मलखान सिंह से कम और वरिष्ठ कवि अष्टभुजा शुक्ल से ज्यादा जुड़ती है। खासकर उनकी लोकप्रिय कविता 'भारत घोड़े पर सवार है' से।

अलबत्ता, इस बाबत संदेह ये पंक्तियां लिखने तक बना हुआ है कि घोड़े पर सवार यह भारत ध्रुव को उनके इस सवाल का जवाब देगा या नहीं कि 'आखिर तुम किस खयाल में गुम हो?' नहीं देगा तो इस सीख को ही कान क्यों देगा कि 'किसी और के होने से नहीं/अपने होने से तुम हो।' क्योंकि भले ही अष्टभुजा शुक्ल की 'भारत घोड़े पर सवार है' कविता दशकों पुरानी हो चली है, भारत की हालत तो अभी भी वही 'एक हाथ में पेप्सी कोला/दूजे में कंडोम/तीजे में रमपुरिया चाकू/चौथे में हरिओम' वाली ही है। 'एड्स और समलैंगिकता की/रहे सलामत जोड़ी/विश्वग्राम की समता में/हमने सीमाएं तोड़ीं' का एलान करता हुआ वह उस सड़क पर कागजी घोड़े तो अभी भी दौड़ाता ही जा रहा है, जो 'शासन और प्रशासन से ही/...नहीं है खाली' और जिनकी 'बची-खुची जगहों पर बाबू/पुलिस पहुंचने वाली', कागजी घोड़ों से कहीं ज्यादा मायावी वर्चुअल घोड़ों की सवारी की भी लत भी लगा बैठा है। उसकी बस्तियों में अब कौन है जो 'ऊंची उड़ान' पर न हो? वहां तो 'दिल से मेल-मिलाप न कोई, दल मिलते हैं दल से।' और 'गुड़ गोबर सब एक हो गए, नाली मिल गई नल से!' (ध्रुव-पद-3)

लेकिन मंजिल की जिसको धुन हो, उसे कारवां से क्या! यह मुमकिन ही नहीं कि वह अनसुनी के डर से जिसे 'सुनाना' है, उससे संवाद ही बंद कर दे। इसलिए इस भारत को यह बताने के लिए कि वह जो जुआ खेलता आ रहा है, उसके पांसे अब भी उसके नहीं हैं, उसके घोड़े की लगाम पकड़ने के ध्रुव शुक्ल के उपक्रम को उनकी धुन का धनात्मक पक्ष ही माना जाना चाहिए। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की स्मृति में रची गई 'ओ मेरे भारत के जन' कविता में यह पूछने को भी कि 'बेच रहे जो देश के साधन/लूट रहे जो देश का धन/उनको कब तक क्षमा करोगे?' ऐसे में तो और भी, जब 'कोई नहीं पूछता/अब कीर्ति-अपकीर्ति के प्रश्न/क्या रह गया है/राज्य और कुल-जाति का अर्थ/ बस, फैलता ही जाता है/अराजक अनर्थ' और 'उधार का राज्य' में 'आतुर दिखते हैं फिर गुलाम होने को/वही पुराना रोग उभर आया है फिर से/जात-पांत के बढ़ते जाते झगड़ों में/फिर भारत के लोग टूटते जाते हैं।' सवाल पूछने की यह धुन नहीं रही तो कौन कह सकता है कि रोज-रोज नए नए पांसे फेंकने वाली शकुनियों की जमात कितनी बलवान और दांव पर लगाई जा रही द्रौपदियां कितनी निर्बल होकर रह जाएंगी!

बहरहाल, अच्छी बात यह है कि संग्रह में ध्रुव की यह धुन उसके अंत में आए तीन 'ध्रुव-पदों' तक बनी रहती है। ये पद भी अष्टभुजा शुक्ल के 'पद-कुपद' की तर्ज पर रचे गए हैं। भले ही उनमें न अष्टभुजा वाली बात है, न 'कहनि' और 'रहनि' का ही सम्यक निर्वाह हो पाया है। अलबत्ता, रघुवीर

पुस्तक :
सुनो भारत
लेखक :
ध्रुव शुक्ल
प्रकाशक :
सूर्य प्रकाशन मंदिर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड)
बीकानेर
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 88
मूल्य : ₹ 200

सहाय, श्रीकांत वर्मा और अशोक वाजपेयी के शिल्प में रची कविताओं में ऐसा नहीं है।

'सुनो भारत' की सारी कविताओं पर एक साथ टिप्पणी करनी हो तो कहना चाहिए कि ये अपने समय में हस्तक्षेप की कविताएं हैं, उसकी रुलाई और हंसी की, तो दुर्दिन के प्रतिरोध की भी। इन कविताओं के ही शब्द उधार लें तो इस समय में जहां ढेर सारी गूंगी इबारतें, ऊबी इबादतें, अकेली आहें, डरावने सपने और बदगुमां व बदजुबां रहनुमा हैं, वहीं बांस की फांस, उधार के राज्य और अत्याचार के व्यापार के जाये अनेक भयों, असुरक्षाओं व लोभों-लालचों ने इसको शैतान से संवाद और हैवान से जेहाद के ऐसे समय में परिवर्तित कर डाला है, जो सिर्फ और सिर्फ गिद्धों के अनुकूल रह गया हैः 'राज्य पर चोरी का आरोप/सह रहे सब गुंडों का कोप/हुआ ईमान धरम का लोप/लड़ रहे पंडित मुल्ला पोप/हुए जन जैसे ठंडी तोप!' (गठबंधन)

इसके चलते दोस्तियां गुमराह हो चली हैं तो बद्दुआ दुश्मनी, दरिंदगी व गुबार के बीच दरकिनार हम बियाबानों में बे-हमराह भटकने को अभिशप्त हैं। 'अंतरतम में/कुरूपता को छिपाती/बदबू को गहराई तक दबाती जाती' दुनिया के इस बेहद कठिन समय में 'खुशबू नहीं आ रही जीवन से' क्योंकि 'कितना भी विज्ञापन करो/नहीं फैलती अच्छाई उस तरह/पहुंच जाती है जिस तरह नई साबुन तेजी से घर-घर में/खूब उजले दिखते हैं कपड़े/लहराते हैं धुले हुए बाल/पर धुलता नहीं मन का मैल।' तिस पर त्रासदी यह भी कि कोई खबर अब खबरदार नहीं करती/बेखबर बनाती है। (विज्ञापन की खबरें)

ऐसे में क्या आश्चर्य कि बाजार में चमड़ी गोरी करने की तमाम क्रीमें उपलब्ध हैं, लेकिन मन को उजला करने की एक भी नहीं। सो, बकौल ध्रुव, प्रेम करते हुए भी डर लगता है कि देख न ले कोई, और यह डर देखने वाले से ही नहीं है, प्रेमिका से भी है जो 'किसी ने देख लिया तो/बचाओ-बचाओ चिल्लाती हुई/भाग खड़ी होगी उसके साथ।' (इसी तरह बच सकती है प्रेमिका)

अब यह तो बताने की बात भी नहीं कि समय की इस कुरूपता ने 24 जुलाई, 1991 को देश के तत्कालीन सत्ताधीशों द्वारा भूमंडलीकरण की मनुष्य व मनुष्यता विरोधी 'सर्वांइबल आफ दि फिटेस्ट' की अनीतियों को अंगीकार करने के बाद तेजी से पैर फैलाने शुरू किए तो अब तक पीछे मुड़कर नहीं देखा है। इसने सारे एतराजों को जबरदस्ती नेपथ्य में धकेलकर सर्वानुमति के मायाजाल के बीच और तो और लोकतंत्र व स्वतंत्रता तक के अर्थ बदल डाले हैं। प्रसिद्ध आलोचक शंभुनाथ के अनुसार इसने स्वर्णमृग की उस लालसा को, जो सीता की पराधीनता की मुख्य वजह बनी, सीता तक ही सीमित नहीं रहने दिया है और न आज सिर्फ राम ही उसके पीछे दौड़ रहे हैं। इसके उलट मध्य वर्गों के सारे लोग बेतहाशा दौड़ रहे और मृग मरीचिका में उलझते जा रहे हैं।

इतना ही नहीं, इस समय ने मनुष्य के ज्ञान को सूचनाओं तक सीमित कर डाला है तो उसकी संवेदना को संस्कृति उद्योगों और संस्कृति की राजनीति ने इस कदर घेर लिया है कि बाजार के बाहर मानव समाज जबरदस्त विघटन के दौर में है।

इस विघटन के लगातार जारी रहने का अर्थ होगा-मनुष्य और मनुष्यता का अनेक नए अनर्थों के हवाले होना। हां, राजनीतिक नायकों के सामूहिक पतन की जैसी दृश्यावलियां इन दिनों चारों ओर दिखाई दे रही हैं, उनके मद्देनजर नए अनर्थों को रोकने की सारी जिम्मेदारी एकबारगी

बाजार की ही तर्ज पर ग्रेडिंग करते हुए 'सचिन खिलाड़ी' को संग्रह की सबसे खराब कविता कहें तो सबसे इमोशनल कविताएं वे हैं जो यू.आर. अनंतमूर्ति के लिए रची गई हैं-'अनंतमूर्ति के प्रति' और 'कहां चले जाओगे अनंतमूर्ति'।

उनके ही सिर आ पड़ी है, जिनके हाथों में किसी भी तरह के सृजनात्मक प्रतिरोध का अलम है। ऐसे में इस संग्रह से गुजरना इस सुखद अहसास से गुजरना भी है कि ध्रुव शुक्ल ने सृजनात्मक प्रतिरोध की इस जिम्मेदारी का गंभीरता से निर्वाह किया है। पहली कविता 'इन्हीं के समर्थन से' ही : 'लुटेरे और पाखंडी/छीन रहे हैं मुझसे मेरी पृथ्वी/मेरी आग/मेरा पानी छीन रहे हैं।' वरना किसे नहीं मालूम कि पिछले चार पांच सालों में एक राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन राजनीति के बाहर, साहित्य की दुनिया में भी गठित हो गया है, जिसके घटक हमारे विकास के वर्तमान 'महानायक' को पीवी नरसिंहराव व मनमोहन सिंह की बनाई भूमंडलीकरण की राहों पर ही नयनाभिराम हाइवे बनाते देख 'अहो रूपम अहोध्वनिः' के उद्घोष में मगन होने में ही अपने को धन्य मान रहे हैं।

अपनी 'ये समय है...' कविता में ध्रुव शुक्ल इन्हीं घटकों को इंगित करते हुए 'ये समय है..' कविता में कहते हैंः 'यह बोलने का समय है/खुले आम/भेद खोलने का समय है/...ये किसी के बचने का नहीं/इसलिए सबको बचाने का समय है/ये समय काम आ जाए तो बहुत अच्छा/न आए तो फिर सबके मिट जाने का समय है।' जाहिर है कि मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने वाली बात ऐसे ही समय के लिए कही थी।

सबके मिट जाने की आशंका से भरा काला-अंधेरा समय सामने आ खड़ा हो तो जीवन के दुखों को अपरंपार हो जाने से कौन रोक सकता है? स्वाभाविक ही 'सुनो भारत' में दुख से जुड़े शीर्षकों वाली तीन कविताएं हैं-'दुख गाने लायक नहीं बचा', 'दुख की छाया' और 'दुख ही है...' लेकिन जिन कविताओं के शीर्षकों में दुख नहीं है, उनमें से भी ज्यादातर 'मूक होते वेदना के बोल' जैसी ही हैं और पीड़ित व परवश मनुष्य का दुख उनमें भी यत्र-तत्र-सर्वत्र पसरा दिखता है। 'सुंदर और नश्वर' कविता में ध्रुव शिकायत करते हैं कि 'पत्तों की तरह/नहीं झर रहा है दुख/कोंपलों की तरह/नहीं फूट रहा है सुख/फूलों की तरह/नहीं खिल रही है खुशी' तो बरबस उनके समवयस्क और समकालीन कवि मदन कश्यप की 'दुख' शीर्षक कविता याद आ जाती हैं, जिसकी कुछ पंक्तियों में वे कहते हैं-'प्यार में भी दुख ही था', 'आंखों में तालाब के जल की तरह ठहरा हुआ', तो 'पीठ पर दागने के निशान की तरह' और 'होंठों पर पपड़ियों की तरह जमा'। यहां तक कि 'दुख पहन रखा था/जिसे किसी भी तरह उतारना संभव नहीं था!'

संभव तो तब होता, जब समय उसे होने देता। 'वधिक का गीत' में ध्रुव यह कहते हुए कि 'विचारों के द्वंद्व से परे नीला आकाश/सोखता रहता है सबके शब्दों की स्याही/सुनता रहता है वधिक का गीत' तो एक बार फिर उन मदन कश्यप के ही निकट जा खड़े होते हैं, 'अपना ही देश' संग्रह में जिनकी एक कविता की पंक्तियां हैंः हमारे समय के शब्दों ने/कुछ इस तरह बदले हैं रंग/कि खुशी का अर्थ है/दुखों का रंगीन हो जाना/विचार का अर्थ है मूर्खता में चमक आ जाना।

वधिक के गीत और मूर्खता में चमक के खिलाफ अपने-अपने प्रतिरोध दर्ज कराते हुए इन दोनों कवियों ने अपनी कविताओं में जिस नैतिक उजास की पैरोकारी की है, वह वाकई सहेजने लायक है, इसलिए कि लगातार कम से कमतर और दुर्लभ होती जा रही है।

प्रसंगवश, इधर रामदरश मिश्र ने चार पंक्तियों की एक बेहद छोटी कविता रची है, जिसका शीर्षक है 'मुर्गा बोले न बोले': 'कविता कविता होती है तो खुद ही बोलती है/आलोचक मुंह खोले या न खोले/सुबह तो सुबह है वह तो आती ही है/मुर्गा बोले न बोले।' इस कविता

की कसौटी पर कसें तो 'सुनो भारत' में ध्रुव की कविताओं की समस्या यह नहीं है कि वे गूंगी हैं या कि बोलती नहीं हैं। इसके विपरीत कई बार वे बहुत ज्यादा बोल जाती हैं या कि बोलती ही चली जाती हैं। उनका कवि है कि जैसे उनके संदेशों को लेकर आश्वस्त नहीं हो पाता कि वह उन्हें पाठकों तक ठीक से संप्रेषित कर पा रहा है या नहीं, इसलिए उनके खुलासे के क्रम में शब्दों का इतना अपव्यय कर डालता है कि बात न सूक्त रह जाती है, न भाष्य। मामला दोनों के बीच फंसकर सपाटबयानी या कि विवरणात्मकता तक चला जाता है, जबकि कई मायनों में प्रगल्भता एक बड़ा काव्यगुण है और पाठकों के चित्त को आकर्षित करने में भी उसकी कुछ कम भूमिका नहीं।

यहां साफ कहें तो 'सुनो भारत' के कवि की कम से कम 'अपने आप अपना नाप' शीर्षक कविता ऐसी है, जिससे कवि को खुद भी सबक लेना चाहिए : 'जो चीजें अपने आप में/होती हैं/ अपने नाप की/काम आती हैं सबके/अपने नाप की काया में खड़े रहते हैं वृक्ष/सदियों तक छाया देते सबको।' लेकिन ध्रुव ने इस कविता में जो बात कही है, उनकी कविताओं के संदर्भ विशेष में उसे पूरी करने के लिए प्रकाश देव कुलिश की 'कुम्हार भाई' कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत करना जरूरी है। उनकी इस कविता में 'कुम्हार' की जगह 'ध्रुव' कर दें तो पंक्तियां यों बनती हैंः दो रुपये में एक सही/ध्रुव भाई/तुमने बचा तो रखे हैं दीये/...ध्रुव भाई! तुम हो, दीये हैं/तभी तक बची है स्नेह से जलती प्यार की लौ!

लेकिन प्यार की यह लौ क्रिकेटर सचिन तेंदुलकर के प्रति रची गई ध्रुव की 'सचिन खिलाड़ी' कविता तक आती आती कम से कम इस अर्थ में बुझने लगती है कि वह सचिन को भले ही धन्य बनाती है, प्रतिरोध की जिम्मेदारी निभाने में चूक का पता भी देती है। यहां कवि से कम से कम इतनी समझदारी की अपेक्षा तो थी ही कि संग्रह की शीर्षक कविता 'सुनो भारत' में उसने जिस 'बाजार के इशारों पर नाच रही राज्यसभा' का जिक्र किया है, सचिन का उससे कैसा रिश्ता है! वहां वे सिर्फ इसलिए हैं कि बाजार अपने इस महानायक को वहां भी देखना चाहता था। लगता है कि कवि पब्लिक डिमांड पर उन्हें मिले 'भारत रत्न' के तमगे से अभिभूत होकर रह गया और उसे याद नहीं रहा कि सचिन के 'कीर्तिमान पर कीर्तिमान' से अभिभूत होने के पहले 'यह विजय तुम्हारी नहीं' में उसी ने लिखा हैः 'क्यों पीट रहे हो छाती/किसी की हार पर/ जीत पर ढोल/खिलाड़ी की जीत और हार/दोनों का चलता है व्यापार...आ सको तो/इस नाटक के सुखांत से बाहर आओ/उसके दुःखांत से भी' और 'तुम्हारी विजय का रास्ता/इस रंगशाला के बाहर है'।

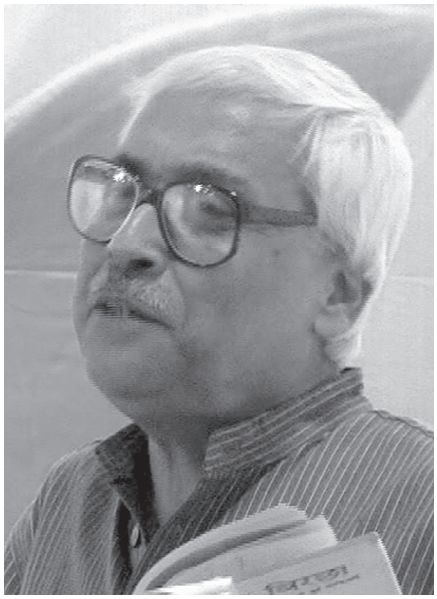

यहां बाजार की ही तर्ज पर ग्रेडिंग करते हुए 'सचिन खिलाड़ी' को संग्रह की सबसे खराब कविता कहें तो सबसे इमोशनल कविताएं वे हैं जो यू.आर. अनंतमूर्ति के लिए रची गई हैं- 'अनंतमूर्ति के प्रति' और 'कहां चले जाओगे अनंतमूर्ति'। इनमें अनंतमूर्तिकाल को प्रणाम करते हुए ध्रुव कवि के साथ दार्शनिक भी हो जाते हैंः जब जीवन साथ नहीं देता/वचन निभाने के लिए/आती है मृत्यु/ले जाती है देश से उठाकर/मिला देती है अनंत प्राण में...किसी एक दिन/सब जाते हैं अपना अपना देश छोड़कर/ उसे छोड़ने के लिए मिल जाना पड़ता है उसी की माटी में...माटी में मिलकर देश छोड़ना सिखाओ/ अनंतमूर्ति!

अनंतमूर्ति के प्रसंग से वाकिफ पाठक इन कविताओं में खोएंगे तो ध्रुव के इस सवाल-कोई जगह है धरती पर/जो सितमगरों से खाली हो/ रहा है कभी ऐसा समय/अत्याचारी ने बड़ी उमर पा ली हो-और साथ ही इस आह्वान-यहीं सबके साथ रहो/जो नहीं कह पाए/अभी और कहो-से विगलित और प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे।

संग्रह के साथ एक और बढ़िया बात यह है कि इसमें पाठकों के आस्वाद में 'दखल' या कवि को 'प्रमाण पत्र' देने वाली एक भी सामग्री नहीं है। बस, कवि है और उसकी कविताएं हैं, जो दुर्दिन के विकल्पों को लेकर कोई भ्रम रचने के बजाय बेलौस कहती हैंः 'कोई सपना घर से बाहर/जाने लायक नहीं बचा/कोई अपना दूर शहर से/आने लायक नहीं बचा/अपना पानी पीने लायक नहीं बचा/अपना खाना/खाने लायक नहीं बचा। खोने को तो बहुत बचा है/पाने लायक नहीं बचा।' यहां तक कि जिसे 'कभी अकेले गा लेते थे' वह दुख भी 'गाने लायक नहीं बचा।'

ऐसे में बेहिस विकल्पों की मृग मरीचिका में भटकने से बेहतर है कि 'किसी एक की तरफ नहीं/सबकी तरफ देखो/और सब मिलकर एक हो जाओ।...पर द्रोही को पहचानो/उस मायावी मृग को/जो अपना पीछा करने के लिए/ तुम्हें विवश कर रहा है।' (परद्रोही को पहचानो) क्योंकि 'नहीं मिलता विकल्प/ उदासीनता और महत्वाकांक्षा से/ नहीं मिलता ईर्ष्या से, डाह से/ नहीं मिलता विरोध और क्रोध से/ मिलेगा वह जीवन के शोध से, बोध से/जहां शामिल हों सब/ बस वही है विकल्प।' इस विकल्प को पाने के लिए 'देह के रण क्षेत्र में' तुम्हें 'लड़ना है तो अपने आप से लड़ो/बचना है तो अपने आप से बचो।' वरना देख सको तो उधर की उस विडंबना को देखो, जिसमें 'उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा'ः 'वे अपने आप को देख नहीं पा रहे/सुन भी नहीं पा रहे अपने आप को/छू भी नहीं पा रहे/रहते हैं जिस धरती पर/उसकी गंध भी नहीं आ रही उन्हें।... वे अपनी मौत मर भी नहीं रहे/कोई और उन्हें मार रहा है।'

'सुनो भारत' की सारी कविताओं पर एक साथ टिप्पणी करनी हो तो कहना चाहिए कि ये अपने समय में हस्तक्षेप की कविताएं हैं, उसकी रुलाई और हंसी की, तो दुर्दिन के प्रतिरोध की भी। इन कविताओं के ही शब्द उधार लें तो इस समय में जहां ढेर सारी गूंगी इबारतें, ऊबी इबादतें, अकेली आहें, डरावने सपने और बदगुमां व बदजुबां रहनुमा हैं, वहीं बांस की फांस, उधार के राज्य और अत्याचार के व्यापार के जाये अनेक भयों, असुरक्षाओं व लोभों-लालचों ने इसको शैतान से संवाद और हैवान से जेहाद के ऐसे समय में परिवर्तित कर डाला है, जो सिर्फ और सिर्फ गिद्धों के अनुकूल रह गया है।

'विज्ञापन और ब्रांड': एक जरूरी ग्रंथ

अरुण कुमार भगत

मीडियाविद्

संपर्क :
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय सी-56/4, सेक्टर-62, नोएडा, (उत्तर-प्रदेश)
मो. 98583 87111

पुस्तक :
विज्ञापन और ब्रांड
लेखक :
संजय सिंह बघेल
प्रकाशक :
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 310
मूल्य : ₹ 450

संजय सिंह बघेल ने 'विज्ञापन और ब्रांड' नामक इस पुस्तक को कुल 10 अध्यायों में विभक्त कर विषय-वस्तु के सभी आयामों की विवेचना की है; जो पत्रकारिता एवं जनसंपर्क के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के साथ-साथ शोध प्रबंध के लिए भी संग्रहणीय है।

यह विज्ञापन का युग है आज मनुष्य जीवन में विज्ञापन की भूमिका महत्वपूर्ण है। बाजारोन्मुख समाज के संचालन में विज्ञापन का हस्तक्षेप आज इतना अधिक बढ़ गया है कि उसकी अपरिहार्यता महसूस की जाने लगी है। बाजार का हर उत्पाद ब्रांड बनने की होड़ में लगा है। यहां तक कि आजकल मीडिया संस्थान भी अपने आप को ब्रांड के रूप में स्थापित करने के लिए न केवल तरह-तरह यत्न करते हैं अपितु विभिन्न तरह के हथकंडे भी अपनाते हैं। राजनेता हो या सामाजिक कार्यकर्ता, प्राध्यापक हो या अधिवक्ता, अभिनेता हो या कलाकार - सभी विज्ञापन के इस युद्ध में अपने आप को ब्रांड के रूप में स्थापित करना चाहते हैं और इसके लिए स्वयं के विज्ञापन हेतु तरह-तरह के षड्यंत्र करने से भी बाज नहीं आते हैं।

सामाजिक जीवन में बाजार की बढ़ती महत्ता तथा उसमें अपने उत्पाद को स्थापित करने की इच्छा और आकांक्षा ने विज्ञापन और जनसंपर्क को एक महत्वपूर्ण अकादमिक अनुशासन के रूप में लोक-समृद्ध तो बनाया ही है साथ ही साथ इसकी उपयोगिता और उपादेयता के कारण आजकल इस पर काफी कुछ लिखा जा रहा है। विज्ञापन और जनसंपर्क के क्षेत्र में कौशल अर्जित करने की मानो होड़ सी लग गई है। विज्ञापन का बाजार समाज-जीवन को प्रभावित करने के साथ-साथ युवाओं को अपनी ओर आने तथा इस क्षेत्र में कैरियर बनाने के लिए भी आकर्षित कर रहा है। इस दृष्टिकोण से समीक्ष्य पुस्तक 'विज्ञापन और ब्रांड' भी जनसंचार के अकादमिक दुनिया में एक ब्रांड के रूप में स्थापित होने की दक्षता और योग्यता रखती है।

दिल्ली स्थित सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस महत्वपूर्ण पुस्तक के लेखक हैं संजय सिंह बघेल, ने कुल 309 पृष्ठों की इस पुस्तक में विज्ञापन के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों में सामंजस्य स्थापित करते हुए मनोयोगपूर्वक विश्लेषण-विवेचन किया है। 'विज्ञापन और ब्रांड' से संबंधित प्रायः सभी आयामों को उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ रेखांकित किया है। विज्ञापन के महत्वपूर्ण और अद्यतन उदाहरणों के कारण इस पुस्तक की महत्ता और उपयोगिता काफी बढ़ गई है। वैश्वीकरण और उदारीकरण के इस दौर में पत्रकारिता और जनसंचार के विद्यार्थियों के लिए एक श्रेष्ठ और संग्रहणीय पुस्तक सिद्ध होगी, ऐसा मेरा दृढ-विश्वास है।

दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापनरत बघेल ने पत्रकारिता, जनसंचार के साथ-साथ कैरियर काउंसलिंग और मोटिवेशनल स्पीकर के रूप में भी अपनी एक विशिष्ठ पहचान बनाई है। देश के अनेक विज्ञापन संस्थाओं से संबद्ध रहे हैं उन्हें अनेक महत्वपूर्ण, चिरस्मरणीय और दृष्टांत योग्य विज्ञापन की रचना तथा निर्माण का श्रेय प्राप्त है। देश-विदेश के अनेक श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अध्यापन करने के कारण भी इस क्षेत्र में उनका अनुभव काफी व्यापक और विस्तृत हुआ है। इस पुस्तक के अध्ययन-अनुशीलन से मेरी यह मान्यता पाठकों के बीच स्वयं स्थापित हो जाएगी, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

बघेल ने 'विज्ञापन और ब्रांड' नामक इस पुस्तक को कुल 10 अध्यायों में विभक्त कर विषय-वस्तु के सभी आयामों की विस्तृत विवेचना की है; जो पत्रकारिता एवं जनसंपर्क के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के साथ-साथ शोध प्रबंध के लिए भी संग्रहणीय और मननीय है। डॉ. बघेल ने भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयों के पत्रकारिता और जनसंपर्क के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर, उन्हें इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों में समाकलित करने का भरसक प्रयास किया है। इससे इस पुस्तक का कलेवर थोड़ा बड़ा अवश्य हो गया है किंतु पत्रकारिता एवं जनसंचार के विद्यार्थियों के लिए इसके उपादेयता बढ़ गई है।

इस पुस्तक के पहले अध्याय में विज्ञापन के उद्भव एवं विकास पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में विज्ञापन उद्योग की महत्ता को स्थापित करने के लिए उन्होंने विभिन्न रिपोर्ट के माध्यम से महत्वपूर्ण आंकड़ों का उल्लेख किया है। विज्ञापन की अवधारणा और विकास-यात्रा को उन्होंने उदाहरणों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यह पत्रकारिता एवं जनसंचार के विद्यार्थियों के लिए सहज रूप से ग्राह्य होगा। विज्ञापन जगत में उत्पाद की पहचान, उसकी छवि, उसका स्थान, और उसके मूल्य को समझने के लिए डॉ. बघेल ने महाभारत के एक दृष्टांत का उल्लेख किया है, जो तर्कसंगत तो है ही, समीचीन भी है।

विज्ञापन संचार का एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके लिए विज्ञापनदाता भुगतान करता है, यह ठीक है कि विज्ञापन के माध्यम से उत्पाद की सीधी बिक्री में रातों-रात कोई बेतहाशा बृद्धि नहीं होती है किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि विज्ञापन के कोई मायने ही नहीं हैं। वस्तुतः इसके द्वारा उत्पाद की गुणवत्ता, पहचान और मूल्यों के माध्यम से उपभोक्ताओं के बीच छवि परोसी जाती है जो कालांतर में उत्पाद की बिक्री में सहायक सिद्ध होता है। बघेल ने आधुनिक विज्ञापन के वैश्विक विकास का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है उन्होंने भारतीय विज्ञापन जगत के प्रादुर्भाव पर भी इस अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला है। हिंदी विज्ञापनों के इतिहास के क्रम में उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण विज्ञापनों का उल्लेख किया है जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

विज्ञापन वस्तुतः विभिन्न कलाओं का सम्मिश्रण है। इसमें प्रबंधन, डिजाइन, संचार कौशल और साहित्य की श्रेष्ठताएं एक साथ सम्मिलित होती हैं। इन श्रेष्ठताओं से जो विज्ञापन तैयार होता है, वह उत्पाद को ब्रांड की शक्ति प्रदान करता है। विज्ञापन के लिए कुशल रणनीति तैयार की जाती है। जिसके फलस्वरूप बाजार में उत्पाद की पहचान तो बनती ही है, उपभोक्ताओं के व्यवहार को भी नियमित-नियंत्रित करने में मदद मिलती है। इस अध्याय में उन्होंने विज्ञापित होने वाली वस्तु की पहचान,

स्थान और मूल को विस्तार से विवेचित किया है।

बघेल ने विज्ञापन के उद्भव और विकास को रेखांकित करते हुए लिखा है कि भारत में भित्ति-चित्रों और पत्थरों पर उकेरी गई कलाओं के नमूने 4000 ईसवी पूर्व से ही दिखाई देने लगते हैं। घर के बाहर की दीवारों पर लिखे गए विज्ञापन और प्रचार सूची विज्ञापन के पुराने रूपों में से एक है लेकिन विज्ञापन का विस्तृत और वास्तविक विकास प्रिंटिंग-तकनीक के विकसित होने के बाद ही माना जा सकता है। जब प्रिंटिंग तकनीक ने चिह्नों के माध्यम से संदेशित किए जा रहे विज्ञापनों को स्थानांतरित कर इसे लिखित और संदेशित रूप में प्रस्तुत किया।

बघेल ने विज्ञापन के उद्भव और विकास के क्रम में विज्ञापन एजेंसियों का भी विशेष उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि सन् 1875 में पहली आधुनिक विज्ञापन एजेंसी की स्थापना फिलाडेल्फिया में 'एन.डब्ल्यू.आर एंड संस' के नाम से हुई। सन् 1892 में लंदन की पहली विज्ञापन एजेंसी की स्थापना 'रेनेल एंड संस' के नाम से की गई, उन्होंने विज्ञापन में पहली बार 1887 ईसवी में पेंटिंग के उपयोग का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि पहली बार अमेरिकी विज्ञापन कंपनी ने सेक्स का उपयोग उत्पाद बेचने के लिए किया जो मूलतः महिलाओं के लिए बनाया गया विशेष प्रकार का साबुन था।

'विज्ञापन और ब्रांड' नामक पुस्तक के पहले ही अध्याय में डॉ. बघेल ने विज्ञापन के लिए कॉपी लेखकों, कलाकारों, डिजाइनरों, मनोवैज्ञानिकों एवं मार्केटिंग विशेषज्ञों की जरूरतों पर भी प्रकाश डाला है। भारतीय बाजार की भाषा चूंकि हिंदी है इसलिए लगभग 80 प्रतिशत विज्ञापन हिंदी में ही बनता है। इस सच्चाई के बावजूद लेखक ने पहले ही अध्याय में इस बात का संकेत किया है कि हिंदी विज्ञापन जगत पर अंग्रेजीदा लोगों का कब्जा है। उन्होंने इस बात पर चिंता व्यक्त की है कि भारतीय विज्ञापन का 95 प्रतिशत भाग अंग्रेजी में ही सोचा, विचारा और लिखा जाता है और जब पूरी तरह इसकी कॉपी और रूपरेखा, मसलन विज्ञापन की भाषा जिसे स्टोरी बोर्ड कहते हैं, अंग्रेजी में बनकर तैयार हो जाती है तब उसका हिंदी में अनुवाद करने के लिए अनुवाद एजेंसी को दे दिया जाता है।

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में हिंदी पत्रकारिता और विज्ञापन के इतिहास की विस्तृत विवेचना की गई है। उन्होंने भारतीय विज्ञापन जगत के इतिहास का वर्षवार विवरण प्रस्तुत किया है जो जनसंचार के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। उन्होंने वर्षवार विवरण के क्रम में कारपोरेट विज्ञापनों की शुरुआत से लेकर रचनात्मक और तकनीकपरक क्रांति का विवरण और लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। इस क्रम में उन्होंने अनेक रोचक और सफल विज्ञापनों का भी उल्लेख किया है जिसकी प्रासंगिकता स्वयं सिद्ध है। उन्होंने हिंदी पत्रकारिता के विभिन्न युगों में छपने वाली पत्र पत्रिकाओं के विज्ञापन का भी उल्लेख किया है। उन्होंने विभिन्न शताब्दियों में विज्ञापन के इतिहास का उल्लेख सुरुचिपूर्ण तरीके से किया है जो विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

बघेल ने अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय में विज्ञापन की प्रकृति और स्वरूप को रेखांकित किया है। इस अध्याय में उन्होंने भारतीय उत्पादों के अनेक विज्ञापनों का तर्कसंगत विश्लेषण किया है जिससे संचार के विद्यार्थियों का

दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापनरत बघेल ने पत्रकारिता, जनसंचार के साथ-साथ कैरियर काउंसलिंग और मोटिवेशनल स्पीकर के रूप में भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। देश की अनेक विज्ञापन संस्थाओं से संबद्ध रहे हैं उन्हें अनेक महत्वपूर्ण, चिरस्मरणीय और दृष्टांत योग्य विज्ञापन की रचना तथा निर्माण का श्रेय प्राप्त है।

सम्यक मार्गदर्शन हो सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है। विज्ञापन की प्रकृति और स्वरूप को उन्होंने लैक्मे लिपस्टिक और नेल पॉलिश के माध्यम से विश्लेषित किया है। उन्होंने विज्ञापन की विभिन्न परिभाषाओं के आलोक में विज्ञापन की प्रकृति एवं स्वरूप को अक्षरित किया है। वे लिखते हैं कि विज्ञापन विशिष्ठ प्रवृतियों वाली एक ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसको उत्पादन एवं सेवाओं के बदले मूल्य प्राप्त होता है।

बघेल ने लिखा है कि विज्ञापन पहले उपभोक्ता को एक ऐसी रोमांटिक यात्रा पर ले जाता है जहां उपभोक्ता का ब्रांड से परिचय होता है फिर वह उस उत्पाद और ब्रांड के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करता है, फिर पहली बार उसको खरीदता है। जिससे उसकी पसंद-नापसंद का पता चलता है। यदि उसको कोई ब्रांड पसंद आ गया तो वह जीवन भर के लिए उसका एक वफादार ग्राहक बन जाता है। उन्होंने उत्पाद की उपयोगिता, विशिष्ट गुण, आकार-प्रकार, रूप-रंग, नाम, ब्रांड, प्रतिद्वंद्वी मूल्य इत्यादि के साथ-साथ उसके प्रमोशन की तकनीकी और कार्य योजना का विस्तृत विवेचन किया है। विज्ञापन के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष उद्देश्यों के साथ-साथ विकासशील देशों में विज्ञापन के मिशन और चुनौतियों की भी विवेचना की है। उन्होंने विज्ञापनों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभाव का उल्लेख कर इस पुस्तक की उपादेयता को बढ़ाया है। डॉ. बघेल ने इस अध्याय में विज्ञापन के नैतिक पक्ष का भी उल्लेख किया है। गलाकाट प्रतियोगिता के बीच उपभोक्तावादी संस्कृति के आलोक में विज्ञापन के नैतिक पहलुओं पर विचार करना भी प्रासंगिक है। उपभोक्ताओं को प्रभावित करने की कला और कौशल ने आज अतिरंजना और मिथ्यावर्णन की बैशाखी को आत्मसात करने में भी गुरेज नहीं कर रहा है। यह सचमुच दुर्भाग्यपूर्ण है। कभी सही वजन और पैकेजिंग के नाम पर धोखाधड़ी की जाती है तो कभी माल खत्म की झूठी घोषणा की जाती है। उन्होंने विज्ञापन में सामाजिक मूल्यों के हास होने की ओर भी संकेत किया है।

पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में विज्ञापन के विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख करते हुए डॉ. बघेल ने विज्ञापन के रूप में संचार के विभिन्न मॉडलों को भी विस्तार से समझाया है। विज्ञापन के मूलभूत तत्वों के रूप में उन्होंने धन, संदेश, माध्यम और मापदंड का उल्लेख करते हुए उपभोक्ता के व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों का विस्तार से व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार संतुष्टि, मतभेद, प्रेरणा, प्रवृत्ति, व्यक्तित्व, मनोवैज्ञानिक और जीवनशैली उपभोक्ताओं के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इसी अध्याय में उपभोक्ताओं के गुण और उसकी प्रवृतियों के आधार पर बाजार को छः श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है।

बघेल ने पांचवें अध्याय में विज्ञापन के विभिन्न माध्यमों का उल्लेख किया है। विज्ञापन के माध्यमों और उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर विज्ञापन को कुल सात श्रेणियों में विभाजित किया गया है। प्रिंट माध्यम, ब्रॉडकास्ट माध्यम, और आउटडोर माध्यम के साथ-साथ गुप्त विज्ञापन, छद्म विज्ञापन, सार्वजनिक सेवा विज्ञापन और सेलिब्रिटी विज्ञापन का विस्तृत उल्लेख किया गया है। विज्ञापन की भाषा का उल्लेख करते हुए उन्होंने शब्दों की सार्थकता पर भी बल दिया है। यहां उन्होंने माध्यमों के अनुकूल भाषा की रचना का भी उल्लेख किया है। उनका मानना है कि शब्द विज्ञापन के सशक्त उपकरण हैं।

'विज्ञापन और ब्रांड' नामक पुस्तक के छठे अध्याय में कॉपी लेखक और उसके प्रकार, सातवें अध्याय में विज्ञापन-अभिकल्पना, अभिरुचि, अपील, आठवें अध्याय में विज्ञापन के विभिन्न प्रकार, नौवें अध्याय में विज्ञापन और विज्ञापन निर्माण प्रक्रिया तथा दसवें अध्याय में ब्रांड और ब्रांडिंग का समुचित और ज्ञानपरक विवेचन किया गया है। अनेक प्रमुख विज्ञापनों का सचित्र विवरण इस पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाने में सर्वथा समर्थ है। यद्यपि विज्ञापन पर हिंदी माध्यम में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं किंतु यह पुस्तक विज्ञापन के प्रायः सभी आयामों को अपने में समाकलित करने के कारण श्रेष्ठ हो गई हैं।

बघेल ने विज्ञापन के विभिन्न आयामों को सूक्ष्मता के साथ विश्लेषित किया है। विज्ञापन का शिल्प और कौशल की समझ विकसित करने की दृष्टि से यह पुस्तक विज्ञापन के विद्यार्थियों के साथ-साथ प्रोफेशनल के लिए उपयोगी है। शोधकताओं के लिए भी यह एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में महत्वपूर्ण होगी। इस पुस्तक में भाषा और प्रूफ संबंधी कमी अवश्य रह गई है किंतु समग्रता की दृष्टि से यह पुस्तक विज्ञापन और ब्रांड विषय की पाठ्यपुस्तक के रूप में पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है।

उपन्यास

बदलाव की आकांक्षा में नींद नहीं आती

हरीश कुमार

आलोचक

संपर्क :
पी.डी.एफ.,हिंदी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी - 221005,
(उ.प्र.)
मो. 9454162599

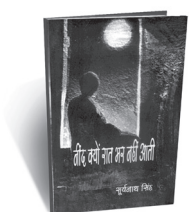

पुस्तक :
नींद क्यों रात भर नहीं आती
लेखक :
सूर्यनाथ सिंह
प्रकाशक :
सामयिक प्रकाशन,
दरियागंज,नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 128
मूल्य: ₹ 125

'नींद क्यों रात भर नहीं आती' शीर्षक में स्पष्ट है कि इस उपन्यास की प्रमुख समस्या नींद का न आना ही है। नींद क्यों नहीं आती इसकी पड़ताल इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने करना चाहा है। इस उपन्यास में ग्रामीण और शहरी जीवन के बीच का जो फासला है उसको रचनाकार ने खोला है।

विश्वभर में हिंदुस्तान की गौरवशाली संस्कृति प्रसिद्ध है। परंतु उसी संस्कृति का वर्षों से आख्यान एक हिस्सा रहा है और उसी में आगे किस्सा या कहानी वाचिक परंपरा का निर्वहन करता है। वाचिक परंपरा के द्वारा ही विभिन्न संस्कृतियों और ज्ञान का संचार अनवरत एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में हो रहा है। सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित सूर्यनाथ सिंह के उपन्यास 'नींद क्यों रात भर नहीं आती' में भी वाचिक परंपरा की कहानियों पर जोर दिया गया है और उसके अर्थों को नए संदर्भ में लेने का प्रयास किया गया है।

'नींद क्यों रात भर नहीं आती' शीर्षक में स्पष्ट है कि इस उपन्यास की प्रमुख समस्या नींद का न आना ही है। नींद क्यों नहीं आती इसकी पड़ताल इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने करना चाहा है। इस उपन्यास में ग्रामीण और शहरी जीवन के बीच का जो फासला है उसको रचनाकार ने खोला है। यहां मांधाता बाबू, कुंदन मिस्त्री, भैरोनाथ आदि पात्रों में भी अपना स्वाभिमान कूट-कूट के भरा हुआ दिखाई पड़ता है। मांधाता बाबू वाराणसी के स्टेशन मास्टर रहे हैं। रिटायरमेंट के बाद वे गांव में रहने लगे हैं। जबकि भूमंडलीकरण के इस दौर में जब बाजार मुंह बाये खड़ी है। ऐसे पलायनवादी दौर में जब गांव के लोग भागकर शहरों में रहना चाहते हो। नगद पैसा कमाना चाहते हों। ऐसे पूंजीवादी समय में मांधाता बाबू का गांव में जा कर रहना अपनी संस्कृति का निर्वहन करना ही दिखाई पड़ता है। आज आदमी एक ऐसे दौर से गुजर रहा है जिसमें इतिहास और संस्कृति ही नहीं बल्कि वर्तमान से भी उसका रिश्ता अरूप होता चला जा रहा है। यह दुर्भाग्य की बात नहीं है कि इतिहास विचार और साहित्य से लेकर मूल्य तक की घोषणाएं की जा रही हैं, और हम उन घोषणाओं की वास्तविकता को परखने के बदले उनकी व्याख्या और बहस के लंबे- चौड़े आयोजन करने में लगे हुए हैं।

इस उपन्यास में उपन्यासकार ने ग्रामीण जीवन के उन मुद्दों को उठाया है जो गांव में आज घट रही हैं या कल घट रही थीं। आज जिस प्रकार से गांव युवाविहीन हो रहा है,उसमें पलायनवाद की समस्या को दिखाया गया है। आज युवा गांव में रहना नहीं चाहते। जिसके परिणामस्वरूप परिवार में समस्या का आना जायज है। क्योंकि पूंजी ने परिवार को कई घटकों में तोड़ दिया है। मंधाता बाबू का कोई संतान नहीं है। उन्होंने अपने भाई रामाधार के बेटे को बचपन से रखकर पढ़ाया लिखाया, एम.बी.ए. करवाया और अब प्राइवेट कं पनी मुंबई में नौकरी करता है। वह अब गांव या बनारस नहीं आना चाहता है या उसे अब काम से छुट्टी ही नहीं मिलती। मंधाता बाबू जब से गांव गए हैं तब से उनको रात भर नींद नहीं आती है। वे रात भर करवट बदलते रहते हैं मगर उनको नींद नहीं आती है। सुबह के समय जगकर खेतों में काम भी करते हैं मगर फिर भी रात भर नींद नहीं आती। उनको नींद आती है कब जब खूब शोर हो रहा होता हो या फिर गांव में मोटर या चक्की मशीन चल रही होती हो तब, मगर रात को उनको नींद नहीं आती।

मांधाता बाबू के एक परिचित मिस्त्री नाम है कुंदन मिस्त्री। रचनाकार नें अगर किस्सागोई संस्कृति में इसे लिखा है तो कुंदन मिस्त्री ही इस उपन्यास का नायक है। क्योंकि इस पूरे उपन्यास में किस्सा सुनाने का या किस्सा गढ़ने का काम कुंदन मिस्त्री ने ही किया है। कुंदन मिस्त्री स्वाभिमानी व्यक्तित्व के मनुष्य हैं। उनसे आप पैसा तय करके काम नहीं करा सकते। वे जहां काम करते हैं उस घर में एक परिवार की तरह खान-पान से लेकर चाय चुक्कड़ तक खुद ही मंगवाते हैं। मगर काम में कोई कोताही नहीं। काम हो जाने के बाद पैसा रुपया जितना मन हो दें या ना दें, कोई बात नहीं।

कुंदन मिस्त्री को जब पता चलता है कि मांधाता बाबू घर आए थे तो वे मांधाता बाबू के घर गए। वहां पर तय हुआ कि आपके लिए आराम कुर्सी बना दिया जाए और कुर्सी बनी भी। इस बीच खास बात यह दिखाई पड़ती है कि कुंदन मिस्त्री अदब का आवारा शहजादा है। वह अपने मन की बातों को जीता है। वह अपने मन का राजा दिखाई पड़ता है। हां कुंदन मिस्त्री की आख्यानपरक कहानियों पर ध्यान दिया जाए तो अनेक बहुअर्थ निकलते चले जाएंगे। इस उपन्यास की जो सबसे अच्छी बात है वह कहानी के भीतर एक नई कहानी का शुरू हो जाना है। कुंदन मिस्त्री के सुनाई कहानियों में यथार्थ हो या ना हो मगर देशकाल परिस्थिति के अनुसार उनके आख्यान सटीक यात्रा करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

'नींद क्यों रात भर नहीं आती' इस प्रश्न का उत्तर तो दिखाई पड़ता है जैसा इस उपन्यास में दिखाया भी गया है कि नींद रात भर ना आने का कारण मस्तिष्क (चेतन/अचेतन/अवचेतन) में गंदगी का भरा होना हो सकता है। क्या इतना कारण है अगर इतना ही कारण है तो इसके पीछे की राजनीति क्या हो सकती है। अनेक विद्वानों ने कहा है कि सामने की नीति तो स्पष्ट दिखाई पड़ती है मगर उसके पीछे यानी अप्रत्यक्ष की राजनीति क्या है? उसकी पड़ताल होना जरूरी दिखाई पड़ता है। नींद मांधाता बाबू को केवल इसलिए नहीं आती कि मस्तिष्क में द्वेष भरा है। नींद न

आने का कारण कई सपनों का मर जाना भी हो सकता है या मस्तिष्क में कई कहानियों का एक साथ चलना भी हो सकता है। उनके पत्नी का असमय देहांत भी हो सकता है। अपना पुत्र ना होना भी हो सकता है या फिर जैसा लेखक ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि द्वेष भावना या मस्तिष्क में अपनी परेशानियों की वजह से भी नींद नहीं आती होगी। इस वर्चस्ववादी समाज में जीने के लिए पूंजी की समस्या प्रधान समस्या है। अगर मांधाता बाबू के पास पूंजी ना होती तो शायद ही कुंदन मिस्त्री उनके लिए आराम कुर्सी बना सकते। क्योंकि इस उपन्यास को पढ़ते समय यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ग्रामीण लोग भी पूंजीवादी समाज में अपने आप को पाकर कितने राजनीतिक और अवसरवादी हो गए हैं। वर्तमान समय जो अपने स्वाभिमान को लिए घूम रहा है उसको पूंजीवादी समाज में या तो पागल करार दिया जाएगा या उसको सीधा (मूर्ख) समझा जाता है। जैसे कि इस उपन्यास का एक अन्य पात्र भैरोनाथ हैं। भैरोनाथ अपने काम का मतवाला आदमी है। उसको अपने काम से बहुत प्रेम है, उसको जब अपने काम से फुर्सत मिलती है तो बम बम भोले का जयकारा लगाता रहता है। वह गांव का आदमी है जो लोगों के द्वारा माना जाता है कि वह सनकी है। यह कहना दूभर न होगा कि लेखक ने बड़े नजदीक से और बड़े करीने से ऐसे पात्रों को इस उपन्यास में समाहित किया है। लेकिन वर्तमान समय में गांव की स्थिति वह नहीं रही। अब वहां भी सुख की नींद शायद ही आती हो। सूर्यनाथ सिंह के उपन्यास 'नींद क्यों रात भर नहीं आती' का कथ्य ग्रामीण जीवन के इतने करीब है कि मांधाता बाबू की तरह प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अपने आप को इस समस्या से जुड़ा हुआ पाता है। ग्रामीण परिवेश का ऐसा चित्रण प्रेमचंद के यहां मिलता है। पहले प्रेमचंद के यहां तो इसकी पूरी श्रृंखला दिखाई देती है। जब भैरोनाथ अपनी स्त्री और बच्चों से झगड़ा करके भागता है तो रसड़ा (बलिया) से उसके कुछ परिचित मोटरसाइकिल पर बैठा कर लाते हैं और उसको सब मिलकर समझाते हैं। वह समझ भी जाता है और फिर से वह सब काम करने लगता है और जयकारा भी लगाता है।

कुंदन मिस्त्री कहानी सुनाने या गढ़ने के माहिर माने जाते हैं जिसे लोक-कथा भी कहा जा सकता है। लोक-कथा मानव समाज का आदिम साहित्यिक रूप है। कुंदन मिस्त्री लोक कथाओं के माध्यम से न जाने कितने आक्रोश और द्वेष को कहानी का रूप बनाकर पेश करते थे। कुंदन मिस्त्री जैसे पात्र भारतीय परिवेश के लगभग सभी गांवों में आसानी से मिल जाएंगे। लेखक समाज और देश को अपने खुले नजरिए से देखता है। लेखक समाज और देश के प्रति सजग है इसलिए वह समाज के ऐसे पात्रों को चुनता है, जिनके यहां जीवन सहज नहीं है। लेखक ने समकालीन समय के लफ्जों पर अपना हाथ रख कर ग्रामीण परिवेश में चल रहे पूंजीवादी रवायत की

सूर्यनाथ सिंह रचित उपन्यास 'नींद क्यों रात भर नहीं आती' में भी वाचिक परंपरा शैली पर जोर दिया गया है और उसके अर्थों को नए संदर्भ में लेने का प्रयास किया गया है।

पहचान की है।

इस उपन्यास में गहरा मनोविज्ञान छुपा हुआ दिखाई पड़ता है क्योंकि नींद रात भर नहीं आती मगर दिन में आती है। यदि मनुष्य कुछ दिन अगर नहीं सोएगा तो उसकी मानसिक स्थिति भी जवाब दे सकती है। इसलिए कुंदन मिस्त्री ने स्पष्ट किया है कि 'आपको मांधाता बाबू नींद इसलिए नहीं आती है क्योंकि आप स्टेशन मास्टर थे। रात में ड्यूटी करते थे दिन में सोते रहे हैं पर यह भी सही हो सकता है कि पूरे उपन्यास के अंत में मांधाता बाबू को नींद आ जाती है और रात में ही आ जाती है। इससे यह पता चलता है कि मस्तिष्क में चल रहे तमाम प्रश्नों को हल करने की कोशिश में रात भर नींद नहीं आती होगी।

इस उपन्यास में मांधाता बाबू के भाई रामाधार उनकी पत्नी और उनका रिश्तेदार प्रमोद नाम का लड़का है जो नौकरी के उम्मीद में उनके यहां सेवा दे रहा है। क्योंकि लोगों का मानना है कि मांधाता बाबू स्टेशन मास्टर थे। वह नौकरी आसानी से लगा देंगे। रामाधार नेताओं के आगे पीछे लगे रहते हैं। रामाधार की पत्नी थोड़ी अलग स्वभाव की हैं। यानीं ग्रामीण सामूहिक परिवार की जो समस्या रहती है वह समस्या यहां भी मौजूद है। पूंजीवादी समाज की खासियत यह है कि वह सबसे पहले परिवार को तोड़ती है।सामूहिक से एकल बनाती है और पूंजीवाद व्यक्तिवादी बनाकर लोगों को अकेला करता जा रहा है। लेखक ने पूंजीवादी जीवन के इस समस्या को समस्या स्वीकार ही नहीं किया। हो सकता है ऐसी समस्या ना हो।

आज के समय में पूंजीवाद ने लेखक की सामाजिक भूमिका का ही निषेध कर दिया है। बाजार में खड़ा उपभोक्ता के लिए संवेदना, कल्पना और भावना के लिए कोई जगह नहीं है। वर्तमान समय में जब व्यक्ति हर जगह अप्रासंगिक होता जा रहा है, ऐसे समय में ऐसी रचनाओं की उपयोगिता हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर बढ़ जाती है। लेखक की रचनाशीलता को एक आयाम के रूप में देखना चाहिए। यह एक ओर वर्तमान में निर्मित हो रहे हाशिए के समाज की प्रासंगिकता है तो दूसरी तरफ से चेतना को भी रूपायित करता है। समाज और इतिहास में सत्ता द्वारा छोड़ी गई या दमित की गई चीजों को एकत्रित करना लेखक की रचनात्मक शक्ति और उसकी विचारात्मक राजनीति हो सकती है। इस उपन्यास में लेखक ने थोड़ा जल्दबाजी में कलम चलाया है। जितनी बातें इस उपन्यास में आनी चाहिए थी उतनी नहीं आ पाई। पर हां, उस ओर इशारा जरूर किया गया है। इस उपन्यास में बालकिसन और उसकी पत्नी की ओर भी लेखक ने इशारा किया है। बालकिसन मांधाता बाबू के यहां काम करता है और उसकी पत्नी मांधाता बाबू के यहां घर में काम करती है। कुंदन मिस्त्री के व्यक्तित्व और उनके कहानियों में एक अदब होता है। कुंदन मिस्त्री की कहानी कई कहानियों के साथ उपस्थित होती है और देश काल परिस्थिति को उजागर करती है। खासकर नारंगी कपड़ा पहने हुए मैनेजर की कहानी, दूसरा राजा और मदारी वाला, तीसरा किस्सा पंडित और उनके परिवार की कहानी इन कहानियों में खास तरह के प्रेरक तत्व छिपे हुए हैं। जो उपन्यासकार के कहन शैली को मजबूती प्रदान करते हैं। एक और कहानी है जो प्रारंभ में ही है - राजा और बनिया का। इस उपन्यास में राजा और बनिया का प्रसंग भारतीय समाज में घट रही घटनाओं पर करारा व्यंग्य दिखाई पड़ता है राजा और बनिया की नीति को लेखक में करीने से संवारा है।

इस उपन्यास में यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि मुक्ति के लिए दिया गया कोई भी बयान विचारधारा की समाप्ति की घोषणा तो नहीं करता है। इस उपन्यास में निराश हुए लोगों के लिए व्यावहारिक समाधान उपलब्ध दिखाई पड़ता है। खासकर मांधाता बाबू के लिए सैद्धांतिक ज्ञान की जानकारी तो नहीं ही पर व्यावहारिक ज्ञान की ही उनको जरूरत ज्यादा दिखलाई पड़ती है। तभी तो उनको नींद रात भर आने लगती है।

इस उपन्यास में नींद ना आने के कारणों का पड़ताल उनके लिए है जिनके पास खासा इज्जत है। पूंजी के रूप में जमीन है। घर के रूप में पूरा परिवार है और कुछ सपनों का मर जाना भी है। नींद का न आना कई कहानियों को सुन या पढ़ लेना भी हो सकता है। या कई ऊंचाइयों को पा लेना भी हो सकता है। यहां समस्या का समाधान लेखक ने कई मायनों में निकाला है।

कहानी

सामयिक विद्रूपताओं का आईना

अंकित नरवाल

साहित्यकार

संपर्क :
198, सेक्टर-7, पंचकूला,
पिन-134109 (हरियाणा)
मो. 9466948355

प्रेम भारद्वाज के यहां सृजित लगभग सभी किस्से उनकी आलोचकीय चेतना का बखूबी निर्वहन करते हैं। उनके यहां दर्ज हुई सहज मानवीय संवदेनाएं इकहरे ढंग की नहीं हैं, बल्कि सामाजिक जटिलताओं की मानिंद परत-दर-परत और गहरी होती गई हैं। उनके यहां 'थ्रील' और 'एंजॉय' के वजूद पर खड़े नए सामाजिक रिश्ते अपनी गरम उत्तरआधुनिक चादर में भी ठिठके देखे जा सकते हैं।

प्रेम भारद्वाज अपने गद्य को कविता की तरह धारदार और नुकीला बना देने वाले उन थोड़े लेखकों में शुमार रखते हैं, जो ज्यादा लिखकर शब्दों की अनावश्यक बाढ़ लाने के पीछे नहीं भागते, बल्कि धीमा और सधा लिखने की कला साधते हैं। 'पाखी' के साथ अपनी अलग पहचान बनाने वाले भारद्वाज के यहां सृजित लगभग सभी किस्से उनकी आलोचकीय चेतना का बखूबी निर्वहन करते हैं। उनके यहां दर्ज हुई सहज मानवीय संवदेनाएं इकहरे ढंग की नहीं हैं, बल्कि सामाजिक जटिलताओं की मानिंद परत-दर-परत और गहरी होती गई हैं। उनके यहां 'थ्रील' और 'एंजॉय' के वजूद पर खड़े नए सामाजिक रिश्ते अपनी गरम उत्तरआधुनिक चादर में भी ठिठके देखे जा सकते हैं; वहां रोजगार की नई अंकगणितीय चाह को हत्या के 'प्रपोजल' में तब्दील होते महसूस किया जा सकता है; वहीं पूंजी की अंधी चाह को भी 'कौन बनेगा करोड़पति की तर्ज' के नए 'इवेंट' में ढलते देखा जा सकता है।

यह मात्र एक संयोग नहीं है कि लेखकीय प्रतिबद्धता का मुक्तिबोधीय सवाल उनके यहां भी 'चांद के टेढ़ेपन' पर बराबर नजर रखे हुए है। वह कहीं विदर्भ के किसानों की आत्महत्या के पीछे खड़े विकास के हत्यापरक मनसूबों को उघाड़ता है, कहीं स्त्री-स्वतंत्रता के विरुद्ध जारी हो रहे फतवों की मंशा सामने लाता है और कहीं सांप्रदायिकता, औद्योगिकरण और विकासवाद की भेंट चढ़े कारुणिक दृश्यों की मुकम्मल फोटो खींचता है। भारद्वाज ने ये सारी छवियां कुछ रोचक किस्सों के सहारे अपने नए कहानी-संग्रह 'फोटो अंकल' में बहुत नुमायां ढंग से मिश्रित की हैं। उनके इस कहानी-संग्रह में 'फिजा में फैज', 'था मैं नहीं', 'प्लीज मम्मी, किल मी', 'कवरेज एरिया के बाहर', 'फोटो अंकल', 'पिंजड़े वाली मुनिया', 'सूने महल में...', 'शब्द-भर जीवन उर्फ दास्तान-ए-नगमनिगार', 'कसम उस्ताद की', 'मकतल में रहम करना' नामक कुल दस कहानियों को संकलित किया गया है, जो सामयिक विद्रूपताओं के पीछे की जमीनी सच्चाइयों की शिनाख़्त करती हैं। ये कहानियां सामाजिक सरोकारों के प्रति प्रतिबद्ध लेखकीय चेतना के शोषण की टीस को भी उभारती हैं।

कहानी 'फिजा में फैज' प्रेम की संजीदगी से भरी एक ऐसी बानगी सामने लाती है, जिसमें सहज प्रेमपरक रिश्तों में आई तब्दीलियों के पीछे काम करने वाले वास्तविक कारण उभरते हैं। इस कहानी में एक ओर ऐसे प्रेमी-प्रेमिका हैं, जो उम्र के आखिरी पड़ाव पर पहुंचकर भी अपनत्व के अहसास से भरे हैं, वहीं दूसरी ओर नए दौर के ऐसे प्रेमी भी हैं, जिनके लिए विवाह जैसे संबंध केवल जिस्मानी सुख का एक नैतिक लबादा-भर बनकर रह गए हैं, जो 'एडवंचर' का खुमार उतरते ही एक खंटे के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाते। यहां एक ओर फुकन मियां जैसी पहली पीढ़ी अपनी रुखसाना से कब्र में भी संवाद रचा रही है; बूढ़े बाबा अपनी विजयलक्ष्मी के अंतिम उपहार को जी-जान से सहेज कर रखने के पागलपन की हद तक चले गए हैं, वहीं दूसरी ओर थ्रील भरे रिश्ते खोजते आधुनिक सहजीवी भी हैं, जिनके लिए घर एक बिस्तर है और दूसरा साथी एक जिस्म के रूप में 'नर' या 'मादा'। जिसके साथ रहने का तब तक एक अलिखित समझौता भर है, जब तक कि शारीरिक आकर्षण रहे। इसमें जीवन का सारा गणित कुछ यूं चलता है कि 'लड़की ने लड़के को लाइक' किया। फिर दोस्ती, फिर प्रपोज किया-आई लव यू बोला। इसमें एसएमएस, मोबाइल ने अहम भूमिका निभाई। बहुत जल्द सेक्स तक पहुंचे। दोनों लिव-इन-रिलेशन में रहने लगे...। लाइफ में इंज्वॉय। इंज्वॉय ही लाइफ। सब कुछ मस्त-मस्त...वक्त की सांसों में जैसे नशा घुल गया...नशा चढ़ता है तो एक अवधि बाद उतरता भी है...छह महीने में ही लाइक की सांसें कमजोर पड़ने लगीं। लव की सांसें फूलने लगीं...सेक्स भी यंत्रवत होने लगा, पति-पत्नी की तरह। उसमें पहले जैसा आवेग...मजा नहीं रहा...मजावाद के वृत्त में देह बर्फ की मानिंद पिघलती रही, कतरा-कतरा।' अलबत्ता यहां एक और नया खतरा भी जन्म लेता है, जो इस नए सामाजिक ढांचे में एक-दूसरे के प्रति बढ़ती अजनबीयत व गैर-ईमानदारी का है। जिसमें किसी का किसी से कोई दीर्घकालिक संबंध नहीं है, बल्कि देह एक अपकरण है, परिवार एक बोझ और जीवनसाथी के साथ ईमानदारी 'नैतिकता की दकियानूसी फूहड़ता'। यदि इसे ही आधुनिक होना कहा जाए, तो फिर आज से ही गली के आखिरी घर में अपनी विजयलक्ष्मी

पुस्तक :
फोटो अंकल
लेखक :
प्रेम भारद्वाज
प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ: 136
मूल्य: ₹ 125

के इंतजार में रेडियो सुनने वाले बूढ़े को बचाए जाने की मुहिम को तेज करने का प्रयास किया जाना चाहिए। यह कहानी इस उपाय को धीरे से रखकर शांत हो जाती है।

कहानी 'था मैं नहीं' उत्तरआधुनिक समाज की वे कतरने हैं, जिन्हें 'अर्थ की उपयोगी भयावहता' ने अलहदा ढंग से जोड़ कर यहां एक मुकम्मल फलस्फां बना दिया है। कहानी में कुछ पात्रों की गुमराही एक ऐसी मंजिल पर जा निकली है, जहां अपनों की हत्या करना भी एक काबिलियत भरे इवेंट में तब्दील हो गया है। अपनी जिंदगी के कुछ अत्यंत निजी पल भी पैसा पैदा करने के लिए रियल्टी शो में बेबाकी से संदर्भित किए जाने लगे हैं। झूठ और सच का अंतर रिश्तों की गर्माहट को बचाने या संजोने का प्रयोजन नहीं है, बल्कि अधिकतर एक ऐसा प्रोपगेंडा है, जिसे भुनाने के अवसर की तलाश करनी है। इस कहानी में चित्रित साक्षी, वेदांत, रमेश, प्रभाकर और प्रवीण केवल कुछ चारित्रिक नाम-भर नहीं हैं, बल्कि आधुनिक शतरंज की वे गोट हैं, जो अर्थवादी मनोवृत्ति से संचालित हैं। कहानी में साक्षी का एक करोड़ रुपये के लिए अपने अवैध जिस्मानी संबंधों को बेबाकी से सामने लाना, रमेश का अपनी नौकरी के लिए दूसरे की मौत को एक मौका समझना और प्रभाकर तथा प्रवीण द्वारा अपने पिताओं की रेलवे ट्रेक पर लेटाकर हत्या कर देना एक तरह से रिश्तों से संवेदनाओं के मर जाने की ही दास्तान सामने लाता है। इसे पढ़कर ऐसा लगता है, 'आज हम जिस दौर में पहुंच गए हैं, वो जंगल और जंगलीपन से भी ज्यादा भयावह है। जंगल के दरख्त भले ही सिमटकर बालकनी के गमलों में आ गए हैं। सभ्यता का विकास भी हुआ है, मगर मन के भीतर का जंगलीपन कबिलाई युग का ही है।' हालांकि यहां एक और बेचैनी भी जन्म लेती है कि फिर इससे बचने के रास्ता क्या हो? कहानी इसका उत्तर उस सवालिया निगाह में देखती है, जिससे अमन अपनी मां को देख रहा है।

इसके समानांतर ही 'प्लीज मम्मी, किल मी' भी मां-बेटे के एक बेहद संवेदनशील संबंध की मार्मिक कहानी है। इसका प्लॉट इच्छा मृत्यु के एक ऐसे सवाल के इर्द-गिर्द बुना गया है, जिसे सैद्धांतिक ढंग से लागू करने की जद्दोजहद आज तक लगातार जारी है। कहानी में राज वत्स का पिछले सात वर्षों से लगातार कोमा में रहना और उसकी मां का उसकी चिकित्सा में कराना, अंततः ऐसे मुकाम पर पहुंचता है, जहां से वह अपने बेटे के लिए इच्छामृत्यु को ही श्रेयस्कर मानने लगती है। इसकी अनुमति के लिए वह राष्ट्रपति को पत्र भी लिखती है, किंतु वहां से

प्रेम भारद्वाज अपने गद्य को कविता की तरह धारदार और नुकीला बना देने वाले उन थोड़े लेखकों में शुमार हैं, जो ज्यादा लिखकर शब्दों की अनावश्यक बाढ़ लाने के पीछे नहीं भागते, बल्कि धीमा और सधा हुआ लिखने की कला साधते हैं।

उसे निराशा ही हाथ लगती है। इसी बीच जीने-मरने की कस्में खाने वाली स्वाति जैसी पात्रा का प्रेम भी नए विकल्प ढूंढ़कर किनारा कर लेता है। यहां चित्रित यह सब घटनाएं मिलकर हमें यह सोचने के लिए विवश करती हैं कि आखिर हमारी संवदेनाएं इतनी भोंथरी क्योंकर हो गई हैं? किस कारणों के चलते कोई व्यक्ति एक सजीव संवेदना न रहकर सिर्फ एक उपकरण-भर बन गया है, जिसे 'यूज एंड थ्रो' के गणित की तरह आंका जा रहा है?

यहां साथ ही कुछ और सवाल भी उभरते हैं, जिनमें विदर्भ के किसानों की आत्महत्या का प्रश्न प्रमुख है। यह कहानी किसानों द्वारा निरंतर की जाने वाली इन आत्महत्याओं की वजह के रूप में कर्ज की अधिकता को ही संदर्भित करती है। यदि कहानी में दर्शाए गए राज वत्स को एक मुकम्मल देश के मैटाफर की भांति पढ़ा जाए, तो इसका अर्थ बिल्कुल नए ढंग में सामने आता है। यहीं हम यह सोचने पर विवश होते हैं कि 'एक ओर देश में लगातार हत्याओं जैसी स्थितियां उत्पन्न हो रही हैं, वहीं दूसरी ओर कोमा में चली गई जिंदगियों की मृत्यु को स्थगित करने का प्रोपगेंडा किया जा रहा है। 'आदमी बीमार है या समय ही बीमार हो गया है, जिसकी नब्ज पर हाथ रखने वाला कोई नहीं। कोई बताने वाला नहीं कि इस दर्द की दवा क्या है? समय का अर्थ इस देश से भी लिया जा सकता है। देश की सेहत बहुत अच्छी नहीं है। वह किसी अस्पताल, किसी ट्रामा सेंटर, बिस्तर पर नहीं पड़ा है? मगर है बीमार। किसी को फिक्र नहीं। इस देश की कोई चीज अपनी जगह नहीं...। रोटी चाहिए, वह नहीं है। इंसाफ की सांसें फूल रही हैं। ईमानदारी कोमा में, मौत का कोई भी पल हो सकता है। सच्चाई को कैंसर हो गया है। उसे मरने से कोई नहीं बचा सकता। आजाद देश में सब आजाद हैं, लेकिन हकीकतन हर कोई अपनी ही आजादी का गुलाम बन गया है।' एक ओर 'अरुणा शानबाग' जैसे लोग हैं, जिन्हें इच्छामृत्यु नहीं दी जाती। हालांकि उनकी मृत्यु पर गम मनाने वाला कोई नहीं। वहीं दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें अकारण ही मरने दिया जा रहा है। उनके लिए 'रोटी' मेहनत का नहीं, बल्कि नियति का सवाल बना दिया गया है। इस कहानी में चित्रित मां अपने बेटे को मृत्यु देकर उसकी तकलीफों का तो शमन कर देती है, किंतु देश की तकलीफों के अंत का इंतजार अभी भी जारी है।

'कवरेज एरिया से बाहर' एक ऐसे भावबोध की कहानी है, जिसमें सांप्रदायिक मनोवृत्ति के निर्माण की जड़ों को समझने का काम किया गया है। यहां कबीर नामक पात्र के मामा का नक्सलियों द्वारा मारा जाना, एक खास समुदाय के लिए ऐसे मौके में तब्दील हो जाता है, जहां से उसे आसानी से 'रणवीर सेना' में दाखिल किया जाता है और वह एक मिशन के तहत बीस लोगों की हत्या कर देता है। यहां चित्रित यह समस्त घटना-कर्म हमें यह सोचने का अवसर उपलब्ध कराता है कि आखिर हत्या करने पर उतारू होने वाली कोई भी भीड़ कहां से खाद-पानी पाती है। इस भीड़ में शामिल हुए कबीर जैसे व्यक्ति फिर क्यों एक खास राजनीतिक मिशन की समाप्ति के बाद कवरेज से बाहर होकर अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश होकर रह जाते हैं। अंत में जिनके पास आभासी मित्रों की एक अपार मंडली तो होती है किंतु बुलाए जाने पर उनमें से एक भी नहीं दिखाई पड़ता। ऐसी अजनबीयत उन्हें आत्महत्या के मुहाने पर ले आती है और वह भी किसी की संवेदना को नहीं झकझोरती, बल्कि फेसबुकिया लाइक या कोमेंट भर तक ही संदर्भित होकर रह जाती है। यह कहानी एक मार्के का सवाल खड़ा करती है कि क्या सभी को अपने जीवन-निर्देशन की वास्तविक स्वतंत्रता आज तक उपलब्ध हुई है? यदि नहीं तो फिर उसकी वजह क्या हैं? क्या उसका एक बड़ी वजह धर्म के आधार पर लोगों को बांटने

वाली शक्तिशाली सत्ता नहीं है?

कहानी 'फोटो अंकल' भोपाल गैस त्रासदी की घटना के सहारे एक ऐसा आख्यान गढ़ती है, जिसमें मारे गए लोगों की कराहट हमें अपने आस-पड़ोस को फिर से देखे जाने की चेतना से भरती है। कहानी इस संहार में मारे गए एक बच्चे के हलफनामे से प्रारंभ होती है। यह वही बच्चा है, जिसका फोटो खींचकर कहानी का फोटोग्राफर अब एक सेलीब्रिटी बन गया है। यह बच्चा फोटो से निकलकर एक ईमानदार कलाकार की अपने वक्त के प्रति बनी रहने वाली निष्पक्ष जवाबदेही का बुनियादी सवाल उभारता है। वह कहता है, 'यूनियन कार्बाइड कंपनी के जिस एंडरसन ने हमारी यह हालत की...एक शहर को मशान में तब्दील कर दिया उसके खिलाफ कुछ भी तो नहीं किया तुमने...तुम तो मेरी तस्वीर से मिली शोहरत को इंज्वॉय करते रहे...न जाने किस खोज की यात्रा में कहां-कहां भटकते रहे...क्या एंडरसन के खिलाफ लड़ाई में तुम शरीक थे...नहीं तो क्यों? वह हमें हमारे ही देश में मारकर चला गया और तुम मरने वालों की फोटो उतारते रहे...अलग-अलग एंगल से जिसे तुम विजन और स्टोरी का नाम देते हो...किसी ने कविता तो किसी ने कहानी उपन्यास लिखा...मगर तुम चीख के दर्द को तस्वीर में न ढाल सके।' इन्हीं सवालों से गुजरते हुए यह बच्चा फोटोग्राफर को वर्तमान की उस तस्वीर से भी रूबरू करता है, जिसमें हिंसा, सांप्रदायिकता और जातिवाद के कारण लोकतंत्र का चेहरा बदरंग नजर आने लगा है। इस प्रकार की भयावहता के बीच फोटोग्राफर के रूप में हर संजीदा व्यक्ति के लिए एक सवाल भर पीछे छूट जाता है कि 'अंधरे और उजालों के बीच फंसा वह करे तो क्या? नरम लड़ाइयों के इस दौर में ताकतवर राक्षस होकर जीते हैं। कमजोर कीड़े बनकर रेंग रहे हैं...बीच के लोग थोड़ा जीते हैं...थोड़ा रेंगते हैं...इसमें से वह खुद क्या है?

कहानी 'पिंजड़े वाली मुनिया' और 'सुने महल में' का विवेचित विषय लगभग एक समान ही है, जिनमें दुनिया की आधी आबादी की स्वतंत्रता का सवाल प्रमुखता से उभरता है। प्रथम कहानी मुनिया नामक चरित्र के लिए जादूगर जैसे मिथकीय पात्र का सृजन कर, उसे सपनों में ही सही, अपनी आजादी को महसूस करने का एक रास्ता दिखाती है। वहीं दूसरी कहानी चालीस साल के लंबे अंतराल बाद भी प्रेम की संजीदगी संजोए रखने वाली एक ऐसी सशक्त पात्रा का सृजन करती है, जो दैहिक और रूहानी प्रेम के बीच के अंतर को न केवल समझ रही है, बल्कि जो नितिन के लिए बेबाकी

प्रेम भारद्वाज की इन कहानियों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इनमें अपने आसपास वे दिलकश और दिलचस्प चित्र हैं, जो आधुनिकता की मार खाकर चरमरा गए हैं। इनके अधिकतर वे घटनाएं हैं, जिनके बीच से रिश्तों की गर्माहट लगभग समाप्त हो गई है, यदि कहीं शेष भी है, तो अपनी अंतिम घड़ियां गिन रही है।

से स्वीकारती है कि 'अगर तुम मेरे पति बन जाते तो मैं तुम्हारे महत्व को कभी नहीं समझ पाती। चालीस साल बाद तन्हाइयों के बीच तुम्हें इस कदर याद न करती। तुम भी दुनिया भर के लिए मात्र पति होते, मेरी देह के मालिक। मैं देह के पार वाले इस प्रेम को शायद कभी नहीं समझ पातीं जिसकी आग में चालीस साल से जी रही हूं।' यह कथन स्त्री को संचालित करने वाली पुरुषवादी मनोवृत्ति को ही उद्घाटित करता है। दूसरी ओर मुनिया के सहारे स्त्रियों को दी जाने वाली स्वतंत्रता के पीछे काम करने वाली मानसिकता भी सामने आती है। हमारे यहां अव्वल दर्जे तो स्त्री को स्वतंत्रता मिलती ही नहीं, यदि मिलती भी है, तो एक नियंत्रक बराबर उस पर निगाह रखे होता है। संक्षिप्ततः ये कहानियां मानती हैं कि 'उड़ने से ज्यादा मुश्किल और चुनौती भरा होता है उड़ान को महफूज रखना, स्त्री का उड़ना, चिड़ियों की तरह नहीं होता...अपनी मर्जी का नहीं होता, स्त्री का उड़ना विमान के उड़ने जैसा है। वह समझती है वह अपनी मर्जी, अपनी काबिलियत की बदौलत उड़ रही है। अगर उसका नियंत्रण तो किसी कंट्रोल रूम में बैठा कोई कर रहा होता है।' यहां संदर्भित यह 'उड़ना' किसी स्त्री का केवल अपने विषय में कोई निर्णय ले सकने की स्वतंत्रता का ही पर्याय नहीं है, बल्कि यह जीने के बुनियादी सवाल तक के दायरे में चला आता है। ये दोनों ही कहानियां ऐसे मनोवृत्ति की कलई खोलती हैं, जो स्त्री को उसके होने का बुनियादी अधिकार से वंचित किए हुए हैं।

कहानी 'शब्द-भर जीवन उर्फ दास्तान-ए-नगमनिगार' वसंत कुमार नामक एक ऐसे बौद्धिक चरित्र की कहानी है, जो उत्तर आधुनिक ढांचे में कहीं भी फिट न मानकर मानसिक रूप से विक्षिप्त करार दे दिया जाता है। वह अपनी उस लेखकीय विरासत का हिस्सा बनता है, जिसमें कहीं इलाहाबाद की तंग गली के किसी मकान में मृत्यु से जूझते फटेहाल निराला हैं, मृत्यु शैया पर बेसुध लेटे मुक्तिबोध हैं, जिन्हें अपने 'चांद का मुंह टेढ़ा है' के प्रकाशित होने का इंतजार है और कहीं फुटपाथ पर अकड़ी लाश के रूप में पड़े 'भेड़िये' के लेखक भुवनेश्वर। कहानी में इस वसंत कुमार को पत्नी भी ऐसी नसीब होती है, जो उसके मरने के बाद संवदेनाएं जाहिर करने में दिलचस्पी नहीं लेती, बल्कि अधिकतर उसकी जगह सरकारी नौकरी पाने की कुव्वत में ही लगी रहती है। यह कहानी उन वजहों तक पहुंचने का रास्ता साफ करती है, जिनके चलते इन प्रतिबद्ध लेखकों की यह स्थिति हो गई है। यहां लेखकों की सामूहिक आवाज संदर्भित करती है कि 'हम शब्द-भर जीवन...शब्द-भर सम्मान, शब्द-भर सुकून चाहते हैं...हम जो लेखक हैं और हाशिए पर हैं। कोई बताए हम पागल क्यों हैं?, कौन है जो हमें पागल बना रहा है, आत्महत्या करने को मजबूर कर रहा है, असाध्य बीमारियां दे रहा है? हम क्यों अश्वत्थामा की अभिशप्तता झेलने को विवश हैं? क्यों...क्यों...क्यों...।'

कहानी 'कसम उस्ताद की' एक छोटा व्यंग्य-चित्र है, जो सत्ता के राजनीतिकरण को सामने लाता है। यह दिखाता है कि शक्ति मिलते ही एक सामान्य व्यक्ति भी शासक बनकर अपने पूर्व वचनों से पलायन करते देर नहीं लगता। कहानी 'मकतल में रहम करना' का कथानक मां और बेटे के बीच के संजीदा रिश्ते को बयां करता है। यहां एक मां अपने बेटे की फांसी के वक्त भी उसकी तकलीफ कम करने के लिए, जल्लाद को रस्सी पर मोम लगाने के लिए देती है, ताकि उसके बेटों को ज्यादा दर्द न हो। यहां इस मां का ऐसा करना कोई महज एक घटना-भर नहीं है, बल्कि अपनी सृजना के प्रति एक प्रतिबद्धता है। संक्षेप्ततः इन कहानियों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इनमें अपने आसपास वे दिलकश और दिलचस्प चित्र हैं, जो आधुनिकता की मार खाकर चरमरा गए हैं। इनके अधिकतर वे घटनाएं हैं, जिनके बीच से रिश्तों की गर्माहट लगभग समाप्त हो गई है, यदि कहीं शेष भी है, तो अपनी अंतिम घड़ियां गिन रही है। ये कहानियां सहज मानवीय आपसदारी से इस गर्माहट को बचाने का रास्ता भी दिखाती हैं। जहां तक इन कहानियों के शिल्प का प्रश्न है, वह आख्यान की पुरानी परंपरा को जीवित करता है। ऐसा लगता है कि कोई हमारे पास बैठ कर कुछ किस्से बांच रहा है और हम दुबकि लगाए उसे न केवल सुन रहे हैं, बल्कि अधिकतर उसे अपने आसपास ही घटता महसूस कर रहे हैं।

शैक्षिक समावेशी समाज से बेदखल 'गूदड़ बस्ती'

कौशलेंद्र प्रपन्न

भाषाविद्

संपर्क :
डी 11/25, सेकेंड फ्लोर
रोहिणी सेक्टर 8
दिल्ली 110085
मो. 9891807914

पुस्तक :
गूदड़ बस्ती
लेखिका :
प्रज्ञा
प्रकाशक :
साहित्य भंडार, इलाहाबाद
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 120
मूल्य : ₹ 250

'गूदड़ बस्ती' में वर्णित दो प्रमुख घटनाओं को विस्तार दिया जाए तो कहानी कहन में दक्ष प्रज्ञा एक और लंबी किंतु सधी कहानी की सृजना कर सकती हैं। वह विषय/कथ्य स्कूली प्रांगण से होकर कॉलेज के खुले माहौल तक बतौर जारी है। बाल यौन शोषण और वर्गीय और जातिगत भेदभाव का खेल दिखाई देता है। भाषाई परिवेश और कथानक की दृष्टि से इस उपन्यास को देखें-पढ़ें तो एक आत्मतोष होगा कि बेहद गंभीरता और मर्यादा में रहते हुए भाषाई धागे में घटनाओं और कथानक को गूंथने की कोशिश की गई है।

मीरा फाउंडेशन एवं साहित्य भंडार, इलाहाबाद की ओर से आयोजित समारोह में डॉ. प्रज्ञा रचित उपन्यास गूदड़ बस्ती और भूमिका द्विवेदी को उनकी उपन्यास कृति आसमानी चादर के लिए सम्मानित किया गया।

हालांकि शिक्षा और शिक्षक, समाज के हर वर्ग और वर्ण को समान और समावेशी शिक्षा देनी की वकालत करती है। लेकिन हकीकतन ऐसा होता नहीं है। शिक्षक और शिक्षा के वाहक स्वयं अपने बरताव और कार्यक्रमों में दलित समाज को हाशिए पर धकेलने का काम बड़ी ही सहजता से करते हैं। यह तक कहते हुए नहीं थकते कि ये स्याले पढ़ लिखकर कलक्टर बनेंगे तो सफाई कौन करेगा आदि। शिक्षा के तमाम दर्शन और समावेशी की आत्मा को धत्ता बताते हुए हमारे इसी समाज में कई ऐसे शिक्षक हैं जो बच्चों से लेकर कॉलेज के छात्रों में बेधड़क भेद की दीवार को मोटी करने में अपना योगदान दे रहे हैं। डॉ. प्रज्ञा की पहली और अधुनातन उपन्यास गूदड़ बस्ती इन्हीं विमर्शों और विभेदीकरण के सिद्धांत पर चलने वाली स्कूली और कॉलेजीय शिक्षा की पड़ताल करती है। अगर अति कम शब्दों में उपन्यास के कथानक को समेटना और समझना चाहें तो वह इतनी सी कहानी है कि एक पिता किस प्रकार अपनी जाति, नाम, काम-धंधा छुपा बदल कर समाज में पंडिज्जी के नाम से जी रहा है। जी ही नहीं रहा बल्कि समाज को ताबीज, अंगूठी आदि बेच कर अपना जीवन बसर कर रहा है। उसके बच्चे काफी समय तक अपनी जाति और पिता के पूर्व कामों से अनभिज्ञ हैं किंतु जब गूदड़ बस्ती में पड़ोसन के साथ झगड़े में उन बच्चों की जाति का खुलासा होता है तब बच्चे जान पाते हैं कि पापा वास्तव में पंडित नहीं बल्कि आगरा में जूता की फैक्ट्री में काम किया करते थे लेकिन उन्हें वह काम करना पसंद नहीं था और शहर बदल कर अपनी जाति और कर्म दोनों ही छोड़ दिया। नई बस्ती नए लोग, नई बसाहट में कौन किसे जानता है लेकिन नहीं, कहीं न कहीं कोई न कोई सूत्र ऐसे छूट जाते हैं जहां से अपने पूर्व और अतीत वर्तमान में आ खड़ा होता है। पूरा उपन्यास एक जाति, वर्ण, वर्ग आदि के जद्दोजहद में बाल और युवा मन की छटपटाहटों को पकड़ने की कोशिश है। संभव है कि कई बार इस उपन्यास को पढ़ते वक्त पाठकों को तुलसी राम के मणिकर्णिका याद हो आए। संभावना इसकी भी बनती है कि ओम प्रकाश वाल्मीकि की जूठन के पात्र आंखें में किरकिरी बन पीड़ा देने लगें। इतना साध और भाषाई परिमार्जन से दलित समाज के टीस ा को परोसना वास्तव में चुनौती है। जोखिम तो उठाई गई है। भाषाई संयम हो या उपन्यास को कसना बड़ी सूझ के साथ नजर आती है।

शैक्षिक विमर्श की दृष्टि से इस उपन्यास में वो तमाम सूत्र और बीज हैं जिन्हें शास्त्र शैक्षिक दर्शन और समावेशी शिक्षा के नाम से जानते हैं। स्कूल और कॉलेज बच्चों को समान और समावेशी शिक्षा की मुख्य धारा से जोड़ने की वकालत करने वाले दस्तावेजों को पीछे छोड़ते हुए इस उपन्यास में वर्णित स्कूली स्तर पर दो किस्म के शिक्षक बल्कि दोनों वैचारिक स्कूलों को ढोने वाले शिक्षक मिलते हैं। एक और आर्या सर हैं तो दूसरी और वासुदेव जी। आर्या नाम ही है। काम उनके नाम से एकदम विपरीत। बच्चों के अलग अलग डंडों से पीटने वाले। क्रूर शिक्षक। जिनसे सारे स्कूल के बच्चे डरते हैं। जो बच्चों को पानी पीने के लिए मंगाते हैं लेकिन शरारती बच्चा उनकी ग्लास में थूक और खखार डाल कर उन्हें देता है। यह बच्चे में पल रही विद्रोह के स्वर को दर्शाता है। बच्चे क्योंकि शिक्षक का विरोध नहीं कर सकते। उनके आचरण बरताव के खिलाफ किसी से शिकायत नहीं कर सकते। ऐसे में बच्चे अपने तरीके से शिक्षक आर्या जी से बदला लेते हैं। वही वासुदेव सर के व्यवहार से सारे बच्चे जीवन के सच्चे पाठ पढ़ते हैं। उनके बरताव से बच्चे दूर जाने की बजाए उनके बेहद करीब हैं। वो किस प्रकार से बच्चों के नाखून काटते हैं। बाल ठीक करते हैं। वासुदेव सर सभी बच्चों के दिल में बसते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस प्रकार शिक्षा जगत में मूंछों वाली मां के नाम से प्रसिद्ध गिजूभाई के तर्ज पर जीते, पढ़ाते वासुदेव सर मिलते हैं। वासुदेव जी सुरेंद्र जो कि इस उपन्यास की धुरी के तौर पर है। उसे हमेशा प्रोत्साहित करते हैं। उस वाक् शैली और दक्षता का हवा देते हैं और अंतर स्कूली भाषण प्रतियोगिताओं में बोलने, समझने की दक्षता को पहचान कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

कहानी जब उच्च माध्यमिक स्कूल में पहुंचती है तब और दिलचस्प हो जाती है। सिर्फ आर्या सर के नाम बदले हैं। यहां भी ऐसे शिक्षक हैं जो बच्चों को जाति और वर्गों में बांटकर व्यवहार तय करते हैं। सुबह स्कूल की प्रार्थना में सुरेंद्र खूब अच्छे से गाता और आज की खबर पढ़ता है। सारा स्कूल सुरेंद्र के वाचन कौशल को जानता और मानता है। लेकिन एक म्यूजिक वाले सर ही इसे

इस लायक नहीं समझते कि सुरेंद्र प्रार्थना गाए। गायन चयन प्रक्रिया में सुरेंद्र को अपनी जाति का खामियाजा भुगतना पड़ता है। उसे चयन समिति इस काबिल नहीं समझती कि वह प्रार्थना गा सकता है क्योंकि उसकी जाति, वर्ग उसकी प्रतिभा को नकारने के लिए काफी है। शिक्षक कहते हैं अब स्याले ये भी सरस्वती मां की प्रार्थना गाएंगे।'' भारद्वाज सर कहते हैं ''भाग यहां से। चले आते हैं जाने कहां-कहां से उठकर। भगवान ने ऐसे ही तुझे नीच नहीं बनाया।'' (पृ. 45) इतना ही नहीं बल्कि स्कूल में तथाकथित निम्न जाति के बच्चों को रजिस्टर पर नाम लिखते वक्त भी दो फांकों में बांट दिया जाता है। इसका उदाहरण इस उपन्यास जिस संजीदगी से किया गया है वह मानीखेज है। सुरेंद्र परेशान है कि रजिस्टर में उसके और उसके साथियों के नाम के आगे एससी लिखा है मास्टर जी ने। क्यों? अपने पापा से पूछता है। दोस्त आपस में विमर्श करते हैं। जब मालूम चलता है कि वो एससी का क्या मायने है तब सुरेंद्र की आगे फट जाती हैं। स्कूली परिवेश में बड़े क्लास के बच्चे किस प्रकार छोटी कक्षाओं के बच्चों के शारीरिक शोषण करते हैं इस बड़ी कारुणिक घटना की ओर प्रज्ञा इशारा करती हैं। वह लड़का छोटे बच्चों को शौचालय में दबोचता है। छोटे बच्चे डर से शौचालय तक नहीं जाते। सरकारी व निजी स्कूलों में छोटे बच्चे किस प्रकार बड़े बच्चों के यौन शोषण के शिकार होते हैं इस ओर विमर्श करना इस उपन्यास को कहीं अन्य धरातल पर खड़ा करता है। जहां से विमर्शकार और शिक्षाकर्मी एक नई समझ ले सकते हैं।

दरअसल इस उपन्यास में दो बड़ी मुख्य स्थापनाएं हैं। बल्कि दूसरे शब्दों में कहें तो यह उपन्यास दो मुख्य कथानक को पिरोकर बुनी गई है। पहली भूमि गूदड़ बस्ती में रहने वाले लोगों की दस्तान और उनके साथ जीने वाले नाम बदल कर रह रहे पंडिज्जी और उनका परिवार। यह परिवार बाकी लोगों से जरा अलग हैं। जरा पढ़ने लिखने में दिलचस्पी रखता है। यही कारण है कि पंडिज्जी की पत्नी कौसल्या, बेशक खुद न पढ़ पाई लेकिन उनकी इच्छा है कि उनके बच्चे पढ़े, लिखे उनकी चाह को पूरा करें। मगर सोहबत का असर कहिए बड़ा बेटा स्कूल छोड़ देता है। न केवल स्कूल छोड़ता है बल्कि गलत संगत में पड़कर और भी बहुत से काम करने लगता है जिसकी टीस कौसल्या और पंडिज्जी को भी है। मगर अपने बड़े बेटे को परिवेशी प्रभाव से बचा नहीं पाते। इसका परिणाम घर के अन्य सदस्यों को भी भुगतना पड़ता है। वहीं दूसरा बेटा, एक बेटी और छोटे बेटे के कंधे पर सवार होकर कौसल्या अपने सपने को साकार होते देखना चाहती हैं। काफी हद तक सब कुछ वैसा ही होता है। दूसरी बड़ी घटना जिसे इस उपन्यास में चुना गया है वह इंदिरा गांधी की हत्या के बाद समाज में फैली आगजनी, लूटपाट, हत्या आदि। अभी तक हमने खबरों में जाना, पढ़ा और देखा ही है कि किस प्रकार इंदिरा जी की हत्या के बाद सिक्ख समाज को बरबाद किया गया। उनकी दुकानें कैसे रातों रात और दिन के उजाले में लूट

प्रज्ञा ने विश्वविद्यालयी शिक्षा और राजनीति, निजीकरण जैसे ज्वलंत मुद्दों को कलमबद्ध किया है। इनसे यह अपेक्षा करना गलत न होगा कि आने वाले दिनों में स्कूलों में होने वाले बच्चों के साथ अशोभनीय बरताव को भेदीकरण की दीवार को दरकाती कोई कहानी समाज को देंगी।

ली गईं। सरकार और पुलिस तंत्र इस पूरी घटना को अंजाम देने में कैसे मूक अभिनय करते रहे। उस पूरी घटना का एक गूदड़ बस्ती पर क्या पड़ता है। इसका निदर्शन हमें गूदड़ बस्ती को पढ़ते हुए मिलता है। लोगों के घर सामानों से भर गए। टीवी, फ्रीज, म्यूजिक सिस्टम आदि। कौसल्या तो देखते ही चिल्लाने लगती है। ये क्या है? कहां से लाया? अभी इसी वक्त मेरे घर से निकल जा इसे लेकर। बड़ा बेटा जो है। बिगड़ी संगत में जीवन दर्शन सीख रहा है। जी रहा है। जिस अपने बीमार बाप की भी चिंता नहीं। यह वही घटना है। जब चारों ओर आगजनी, लूटपाट, मारकाट मचा है। इसी बीच सुरेंद्र के पिता पंडिज्जी की हालत खराब हो जाती है। अस्पताल कैसे रुपये बनाता है। सही स्थिति छुपाते हैं और ऑपरेशन कर डालते हैं। फिर भी हालत ठीक नहीं होती तो कह देते हैं। इन्हें घर लेकर जाएं अब।

कितनी संजीदगी और शिद्दत से प्रज्ञा मौत की घटना व प्रक्रिया को बुनती हैं, यह पठनीय है। प्रज्ञा लिखती हैं जब पंडिज्जी अंतिम यात्रा पर अकेले चले जाते हैं। ''बिना बाप के बच्चों को मां पाल लेती है पर मां मरती है तो बाप पराया हो जाता है। इस यथार्थ को कितनी सहजता से कह दी गई। कमाल तो यह है। कहते हैं मां के मरने से कुछ दिनों, साल बाद पिता दूसरी शादी कर लेता है। नई दुनिया में बस जाता है। बच्चे उसकी प्राथमिकता की सूची में नीचे हो जाते हैं। यह हकीकत इन पंक्तियों में मुखर है। कहानी की बुनकर प्रज्ञा ने यह पहली लंबी किंतु सधी हुई उपन्याय कृति है। दरपेश बात यह है कि उपन्यास में जिस प्रकार श्लील भाषा का इस्तेमाल किया गया है उसे देख-पढ़कर एक सुखद एहसास होता है कि कंटेंट की गरिमा को कैसे भाषा में संरक्षित रखा जा सकता है। एक उदाहरण के तौर पर देखें गूदड़ बस्ती में बच्चियां प्रसाद खाने और पूजन में जाती हैं लेकिन जब एक बच्ची बड़ी हो जाती है। यानी रजस्वला हो जाती है। तब वह कहती है अब मैं कन्या नहीं रही। इसी तरह की और भी पंच लाइन इस उपन्यास में पाठकों को मिलेंगी।

बहरहाल इस उपन्यास में वर्णित दो प्रमुख घटनाओं को विस्तार दिया जाए तो कहानी कहन में दक्ष प्रज्ञा एक और लंबी किंतु सधी कहानी की सृजना कर सकती हैं। वह विषय/कथ्य स्कूली प्रांगण से होकर कॉलेज के खुले माहौल तक बतौर जारी है। बाल यौन शोषण और वर्गीय और जातिगत भेदभाव का खेल दिखाई देता है। बच्चे इस कदर डरे सहमे हैं कि वे दिन में शौचालय तक नहीं जा पाते। गौरतलब है कि इन दिनों स्कूलों में बच्चों की सुरक्षा और यौन शोषण से कैसे बचाएं आदि विमर्श बड़ी शिद्दत से न्यायपालिका, कार्यपालिका, मीडिया आदि में गरम है। अफसोसनाक हकीकत है कि हमारे बच्चे सतत विकास लक्ष्य में शामिल होने के बावजूद स्कूल समाज और विश्वविद्यालयी माहौल में समतामूलक शिक्षा हासिल नहीं कर पा रहे हैं। निश्चित ही प्रज्ञा ने इस मसले में बड़ी ही गंभीरता से उठाया है। इसके अलावा भी प्रज्ञा ने विश्वविद्यालयी शिक्षा और राजनीति, निजीकरण जैसे ज्वलंत मुद्दे को कलमबद्ध किया है। इनसे यह अपेक्षा करना गलत न होगा कि आने वाले दिनों में स्कूलों में होने वाले बच्चों के साथ अशोभनीय बरताव को भेदीकरण की दीवार को दरकाती कोई कहानी समाज को देंगी। इस उपन्यास में आई स्कूली बच्चों के साथ होने वाली भेदपूर्ण घटना कॉलेज में और विकसित रूप में दिखाई देती है। जहां स्कूल में मास्टर जी बच्चों के नाम के पीछे एससी लिखकर बच्चों के कोमल मन में हजारों सवालों की कील गाड़ देते हैं। वहीं कॉलेज में अपने नामों में पौछे लगने वाली पुछल्ली से परेशान सुरेंद्र कहीं न कहीं समावेशी शिक्षा के चरित्र से खिन्न हो जाता है। एक लड़के की इस कदर पिटाई महज इसलिए की जाती है क्योंकि वह सवर्ण लड़की को अपने इश्क का इजहार कर बैठता है। परिणाम कॉलेज से वह ड्रॉपआउट हो जाता है। वहीं स्कूली स्तर पर भी ड्रॉपआउट होने वालों में तथाकथित सुरेंद्र के दोस्त ही होते हैं। जिन्हें हर कदम पर अपनी जाति, समाज का खामियाजा भुगतना पड़ता है। भाषाई परिवेश और कथानक की दृष्टि से इस उपन्यास को देखें-पढ़ें तो एक आत्मतोष होगा कि बेहद गंभीरता और मर्यादा में रहते हुए भाषाई धागे में घटनाओं और कथानक को गूंथने की कोशिश की गई है।

कविता

नफरत के खिलाफ एक अघोषित युद्ध का कवि

कमलेश कुमार यादव

साहित्यकार

संपर्क :
अतिथि अध्यापक,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
क्षेत्रीय केंद्र, 24/28, सरोजिनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद 211001 (उ.प्र.)
मो.-9422386011

राजेंद्र प्रसाद की कविताएं हमें उस दुनिया में ले जाती हैं जहां नफरत के खिलाफ एक अघोषित युद्ध छिड़ा हुआ है। उनकी कविताओं की दुनिया मानवीय सरोकारों से लैस है। राजेंद्र प्रसाद के नए कविता संग्रह 'समर शेष है' को मानवीयता के सच्चे दस्तावेज के रूप में पढ़ा जा सकता है। आज जब हर तरह नफरत की आंधियां चल रही हों इस दौर में राजेंद्र प्रसाद की कविताएं सांप्रदायिक सौहार्द की ठंढी हवा सी हैं।

''कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ या व्यापार-विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानो वे पदार्थ या व्यापार-विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान दिखाई देने लगते हैं, उनकी उत्तमता या अनुत्तमता का विवेचन करने में बुद्धि से काम लेने की जरूरत नहीं पड़ती। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों के प्रवाह जोर से बहने लगते हैं। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है। यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अंतःकरण से निकल जाएं तो वह कुछ भी नहीं कर सकता।''

– आचार्य रामचंद्र शुक्ल

रामचंद्र शुक्ल के उपर्युक्त कविता संबंधी अवधारणा को कविता की कसौटी मानें तो राजेंद्र प्रसाद की कविताएं इसपर खरी उतरती हैं। उनकी कविताएं हमें उस दुनिया में ले जाती हैं जहां नफरत के खिलाफ एक अघोषित युद्ध छिड़ा हुआ है। उनकी कविताओं की दुनिया मानवीय सरोकारों से लैस है। मुक्तिबोध ने लिखा था कि 'चिंता एक, मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों के सभी मानव सुखी सुंदर और शोषण मुक्त कब होंगे'। मुक्तिबोध की यह चिंता राजेंद्र प्रसाद के कविता के केंद्र में है। राजेंद्र प्रसाद के नए कविता संग्रह 'समर शेष है' को मानवीयता के सच्चे दस्तावेज के रूप में पढ़ा जा सकता है। आज जब हर तरह नफरत की आंधियां चल रही हों इस दौर में राजेंद्र प्रसाद की कविताएं सांप्रदायिक सौहार्द की ठंढी हवा सी हैं। उनके कविता संग्रह 'समर शेष है' की विषय वस्तु का विस्तार पाठक को रोमांचित कर देता है। वे देश प्रेम से लेकर मानवीय प्रेम तक अपनी कविता की रेंज को फैलाते हैं, जब वो अपनी कविता 'जय हो तेरा हिंदुस्तान' में कहते हैं कि, ''मैं भारतीय हूं इसलिए नहीं हूं क्योंकि मैं हिंदू हूं मुसलमान हूं इसाई हूं या कुछ और हूं, बल्कि मैं भारतीय इसलिए हूं, क्योंकि मैंने इस मिट्टी में जन्म लिया-

'मैं भारतीय हूं
इसलिए नहीं कि हिंदू हूं
मैं भारतीय हूं
इसलिए नहीं कि मुस्लिम हूं
मैं भारतीय हूं
इसलिए नहीं कि ईसाई हूं
यहूदी हूं, सिख हूं, पारसी हूं
या सुदूर बसा आदिवासी हूं
यहां के अन्न जल से पोषित बड़ा हुआ
सकल संस्कार भारतीय है।' (पृ. 3-4)

तो वो एक देश-भक्ति की नई और खास परिभाषा गढ़ देते हैं जो किसी भी धर्म या समुदाय से ऊपर राष्ट्र को रखती है। 'वे अपनी इंसानियत के संग' कविता में लिखते हैं कि अगर ये राजनीति इतनी संकीर्ण न होती तो देश दुनिया में इतनी नफरत नहीं होती, सरहदों पर तनाव न होता। वाकई राजेंद्र प्रसाद की यह कविता शांति और सद्भाव के अंतराष्ट्रीय फलक वाली कविता है-

'दुनियां में तंग मतलबी
सियासत न होती
सरहदें मुल्कों की
अमन भी न खोतीं।' (पृ. 9)

'समर शेष है' कविता जिसके नाम पर इस कविता संग्रह का नामकरण किया गया है अत्यंत महत्वपूर्ण और खास महत्व वाली कविता है। इस कविता के केंद्र में जो सूत्र है वह किसी भी राष्ट्र के विकास का केंद्रीय तत्व है, वे कहते हैं कि अपराध, नशाखोरी, घूसखोरी से लेकर तमाम बुराईयों के खिलाफ अभी समर शेष है। जिस दिन इनके खिलाफ समर पूर्ण हो जाएगा यह मुल्क बहुत ही खूबसूरत हो जाएगा-

'अपराधी-आतंकी गठबंधन
गोल्डन क्रिसेंट से ट्राइंगल तक
पसरा मादक कारोबार।' (पृ. 15)

राजेंद्र प्रसाद की कवि दृष्टि बहुत ही सजग और अचूक है। वे देश दुनिया की हर घटना पर बहुत ही बारीक नजर रखने वाले कवि हैं इसीलिए उनकी कविताओं में तात्कालिकता देखी जा सकती है। इस संदर्भ में उनकी कविता 'सर्जिकल प्रहार' बहुत ही जीवंत है। दहशतगर्दी की हवा निकलने से लेकर कमांडो की वीरता गाथा तक विस्तृत यह कविता समसामयिकता की दृष्टि से काफी महत्व की है-

'देश सुरक्षित सब कुछ रक्षित।

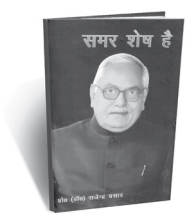

पुस्तक :
समर शेष है
कवि :
प्रो. राजेंद्र प्रसाद
प्रकाशक :
कंसोर्टियम बुक्स प्रा. लि., इलाहाबाद
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 120
मूल्य : ₹ 295

दहशतगर्दों की हवा निकल गई
जन गण रोम रोम है पुलकित
कमांडो प्रहार ने इतिहास रच दिया
देखो हर भारतवासी रोमांचित।' (पृ. 18)

आज जब पूरी दुनिया में सामरिक अभियानों की तानातनी चल रही हो ऐसे में इनकी कविता 'युद्ध' पढ़ी जानी चाहिए। यह कविता युद्ध पर होते हुए युद्ध के कल्चर पर काउंटर अटैक है। राजेंद्र प्रसाद अपनी इस कविता में युद्ध के खतरे तथा उसकी विभीषिका को बताते हुए इस मानवीय संसार को सजग करते हैं-

'आजकल युद्ध द्विपक्षीय या बहुपक्षीय
संघर्ष का संक्रामक रोग है
बढ़ती मानवी अनीति का हिंसात्मक प्रयोग है।' (पृ. 15)

राजेंद्र प्रसाद का यह कविता संग्रह मां और भारत मां को समर्पित है। इस समर्पण की झलक इस कविता संग्रह में भी देखी जा सकती है। इसमें भारत से लेकर मां की ममता तक पर कविताएं हैं। राजेंद्र प्रसाद बच्चों और मानवीय संबंधों के बड़े कवि के रूप में इस कविता संग्रह से पहचान बनाते दीखते हैं। कवि ने बहुत ही सूक्ष्म तरीके से संबंधों को उसकी तह में जाकर पकड़ा है। मां और बच्चों पर लिखी उनकी कविताएं तो अद्भुत हैं। मां, ममता पर पैबंद और बाल दिवस इस दृष्टि से इस संग्रह की बेहतरीन कविताएं हैं। मां किस तरह बच्चों को पालती है, किस तरह उनकी रक्षार्थ वो जिजाबाई बनकर खड़ी हो जाती है। मां और उसकी ममता से जुड़ी ये कविताएं पाठक को अपने बचपन में लौटने को मजबूर कर देती हैं-

'मां ही वह परी है
जो शक्तिस्वरूपा देवी बनकर धरती पर आती है
प्रसव काल की पीड़ा सहकर
संतानों को जननी बोध कराती है।' (पृ. 25)

यही कविताएं कवि राजेंद्र प्रसाद की ताकत हैं जिनके माध्यम से उन्हें मानवीय संबंधो का चितेरा कवि होने की अनुमति देती हैं । जैसा कि कवि ने खुद स्वीकार किया है कि 'मेरी कविताएं प्रेरणास्पद भारतीय परंपरा, परिवर्तन और बौद्धिकता की समेकित काव्य मीमांसा की केंद्र बिंदु हैं। इनमें निराशा नहीं बल्कि आशा और सदाशयता है। यह कविता संग्रह मेरी संवेदना और अनुभूतियों की भाव प्रवण लहरों की अंतःसलिला का अविरल निर्मल प्रवाह है। इन कविताओं में बहु आयामी अंतः प्रेरणा है जो मुझे मनुष्य समाज और देश काल की विभिन्न स्थितियों विचार दर्शन, संस्कृति सांसारिक हितों, संघर्षों और भाव भंगिमाओं का गुणानुवाद कर विवेकशील मानव बनाने के लिए रचनाधर्मिता से जुड़े रहने हेतु अभिप्रेरित करती रहती है।' (पुरोवाक से)

राजेंद्र प्रसाद के इस संग्रह की कविताएं समझ में आने से पहले हृदय तक पहुंच जाती है। साथ ही यह भी सच है कि इन कविताओं के बार-बार वाचन से कविता के अनेक अर्थ-स्तर खुलते जाते हैं जो कवि

राजेंद्र प्रसाद का 'समर शेष है' काव्य संग्रह अन्य संग्रहों की अपेक्षा खास इन अर्थों में है कि इसकी भाषा अत्यंत ही सरल, सहज और बोलचाल की है। ये रचना कहीं न कहीं मनुष्य के अंदर की बाल संवेदनाओं को झकझोरती हैं।

की गहन वैचारिकता और अद्भुत रचना-सामर्थ्य की गवाही देते हैं। इन कविताओं को समझने की सबसे बड़ी कुंजी है-उनका समय। राजेंद्र प्रसाद अपने समय की नब्ज को पकड़ने वाले कवि हैं। भूख बनाम धर्मांधता, अथ इंटरनेट कथा जैसी कविताएं उनकी कविता के विषय वस्तु को विस्तारित करती हैं-

'नई और पुरानी दुनिया का भेद मिटा
ग्लोबल को ग्लोकल जामा पहनाया है
परिवर्तन की आंधी ने सारे बंधन चटकाए
अद्भुत सांसा रिक परिदृश्य सजाया है
विश्वव्यापी वितान के अनजाने अंतस्तल में
कुतूहल भरा संजालित समाज बनाया है।' (पृ. 39)

उनकी शिक्षा कविता भारतीय शिक्षा व्यवस्था की पड़ताल करती है। वे इस कविता में विश्वगुरु के हवाहवाई कांसेप्ट को कटघरे में खड़ा करते हैं-

'शिक्षा की बदहाली देख
चाल चरित्र सब छलना है
दोहरी शिक्षा का जाल बिछा
छायी कोरी प्रवंचना है।' (पृ. 113)

जीवनानुभवों की कमी किसी भी कवि की सबसे कमजोर पहलू होता है। इसकी भरपाई वह तकनीक, शिल्प कौशल, भाषाई चमत्कार और कोरी कल्पना प्रवीणता से करने की कोशिश करता है। लेकिन इस चालाकी से कविता में रूपाकर्षण भले ही उत्पन्न हो जाए, उसमें मर्मभेदी असर पैदा नहीं हो पाता। राजेंद्र प्रसाद कोरी भाषाई चमत्कार के कवि नहीं हैं बल्कि मनुष्य के कोमल भावों को अपने जीवनानुभवों में पिरोने वाले कवि हैं। यही कारण है कि राजेंद्र प्रसाद ऋतुओं तथा त्योहारों के संवेदनशील कवि हैं। विजयादशमी की प्रासंगिकता, होली तथा कृष्ण जन्माष्टमी जैसे त्योहार उनकी कविता के विषय वस्तु में समाहित है। उनकी कविता ऋतुराज वसंत, वसंत ऋतु पर लिखी अब तक की हिंदी कविता के परंपरा की महत्वपूर्ण कड़ी है। खेतों में फैली सरसों की पिली चादर धनिया से महकता खेत, कोयल के कुक को कवि अपने कविता में जीवंत करते हुए वसंत का पूरा चित्र हमारे सामने खड़ा कर देता है-

'शीत की ठिठुरन से मुक्त
प्रकृति ले रही अंगड़ाइयां
विहगों का कलरव
रंग बिरंगी उड़ती
तितलियों की सुंदर परछाइयां।' (पृ. 85)

वसंत ऋतु के साथ एक कविता उनकी प्रेम पर है जिसका जिक्र बहुत जरूरी है। प्रेम पर कविता लिखने की एक लंबी परंपरा है उस परंपरा को अपनी कविता से आगे ले जाना एक चुनौती का काम था जिसे राजेंद्र प्रसाद ने अपनी कवि प्रतिभा से बखूबी निभाया है-

'प्रेम से ही आदम-हौवा ने नापा था
अपनी जिंदगी का रक्त चाप
प्रेम की मिट्टी ही
दुनियां में रूह का आधार
पूरब हो या पश्चिम
सभी जानते
प्रेम रहा सबका सृजनहार।' (पृ. 83)

दुख-सुख और प्रेम के मूल्य पर जब वे लिखते हैं तो उनके कविता का मिजाज अत्यंत गंभीर हो जाता है। वे भारतीय सांस्कृतिक विरासत से प्रेम और नैतिकता के उत्खनन करने वाले कवि के रूप में दिखने लगते हैं। सुख-दुख के बीच जीवन के फैलाव को बहुत तरकीब से वे अपनी कविता में ले आते हैं। नैतिकता और जीवन मूल्य उनकी कविता के भीतर के आकाश को और खूबसूरत और नीला बना देता है। 'समर शेष है' काव्य संग्रह के बहाने प्रो. राजेंद्र प्रसाद ने इस बारूद और गर्द भरे समय में जीवन को मरने नहीं देते। छोटी-छोटी चीजें जो हमारे सामने बिखर रहीं हैं, उन बिखरती हुई चीजों का दुख सामान्य आदमी से ज्यादा रचनाकार को है। इसलिए ये रचना कहीं न कहीं मनुष्य के अंदर की बाल संवेदनाओं को झकझोरती हैं। यह रचना अन्य संग्रहों की अपेक्षा खास इन अर्थों में है कि इसकी भाषा अत्यंत ही सरल, सहज और बोलचाल की है। आज के इस जटिल समय में कठिन भाषा में बात करना, शब्दों का जंजाल बुनना आसान हो गया है जबकि सरल, सहज शब्दों में बात करना बहुत ही मुश्किल है। अपने इस भाषाई तेवर के लिए भी यह काव्य संग्रह याद किया जाएगा। कवि मनुष्य के जीवन के बीच से बुनियादी चीजों के ऊपर नजर जमाए हुए है। उन सारी बिखरती और बिसूरती संवेदनाओं को टटोलने की कोशिश ही इस रचना का केंद्रीय बिंदु है क्योंकि यह काव्य संकलन मनुष्य की संवेदनाओं को इन अर्थों में झकझोरती है कि हमारे सामने जो कुछ गुजर रहा है, वह सब कुछ ठीक नहीं है इस बाजारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में विकास किस तरह से मनुष्यता को मार रहा है। इस विकास और मनुष्यता में एक साथ कैसे सामंजस्य बनाए रखा जा सकता है? ऐसे सवालों के समाधान की खोज की तलाश पर भी रचनाकार की दृष्टि है। यह काव्य संग्रह अपने तमाम विशेषताओं को शामिल करते हुए आज निकल रहे काव्य संग्रहों से भिन्न प्रकृति की शिल्प और संवेदना को उभारा है।

कविता

कविताएं नहीं, चिंताएं...

निशांत

कवि

संपर्क :
द्वाराः डॉ. विजय कुमार साव
हिंदी विभाग, विद्यार्चा भवन
काजी नजरूल
विश्वविद्यालय,
पो. कल्ला,
जिला-वर्धमान-713340
(प.बं.)
मो. 9239612668

पुस्तक :
जैसे कोई उदास लौट जाए दरवाजे से
कवयित्री :
ज्योति चावला
प्रकाशक :
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ : 112
मूल्य : ₹ 150

वास्तव में लड़कियों के प्रति हमारे समाज का जो रवैया है, उसमें एक लड़की ही उनकी सच्ची आजादी को 'फील' कर सकती है। लड़की यदि कवयित्री हो तो उस 'फील' को पाठकों तक संप्रेषित भी कर सकती है। ज्योति चावला इस संप्रेषण में सफल है। इतनी आसानी से वे, उनकी भावनाओं को कविता में लाती है कि कविता आत्मवक्तव्य या आत्मकथा में तब्दील हो जाती है। ज्योति चावला के यहां वास्तविक यथार्थ की तरल-सरल छवियां हैं। इतनी सरल की विश्वास ही नहीं होता कि इन विषयों पर इतनी अच्छी कविताएं लिखी जा सकती हैं।

''हम जिंदगी के पहिए को एक उम्मीद की तरह
ठीक वैसे ही सरकाते जाते हैं जैसे
फेसबुक पर स्क्राल का बटन
इस उम्मीद में कि न जाने अगली पोस्ट
कोई नई खबर लेकर आएं।'' (पृ. 80)

इस कविता का शीर्षक 'फेसबुक और जिंदगी' है। लेकिन इस कविता का शीर्षक सिर्फ 'जिंदगी' होता तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता। वास्तव में जब जिंदगी कविता बन जाए या कविता ही जिंदगी तब ऐसी साधारण में असाधारण अर्थगर्भी कविताएं अपने आप आती है। कविता लिखने की कोशिश या प्रयास नहीं करना पड़ता।

जिंदगी हमें बहुत कुछ सिखाती हैं और 'आशा बलवान है राजन' की तरह 'उम्मीद पर दुनिया कायम है' का पाठ पढ़ाती हैं। एक कवि जितना ही आशान्वित होता है, उसकी कविता उतनी ही दीर्घजीवी होती है। ज्योति चावला 'दूध जिजीविषा' की कवयित्री हैं। यह छोटी सी कविता ही, कवि की 'जीवनी शक्ति' का परिचय दे देती है। 'साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है' की तरह हर चीज में कविता खोज लेना, हर एक दुविधा-सुविधा में कविता को आगे रखना यह बतलाता है कि 'लोग है लागत्त कवित्त बनावट' की तरह आप कविता बनाते नहीं; उसे जीवन की तरह जीते हैं।

ज्योति चावला का पहला संग्रह 'मां का जवान चेहरा' में इसी तरह की एक छोटी कविता, पर महत्वपूर्ण कविता 'पलंबर' ठीक करनेवालों पर थी। वहां कवि सीढ़ी लगाकर दुनिया को थोड़ा बेहतर बनाना चाहता था। यहां थोड़ा आगे बढ़कर 'उम्मीद' और 'आशय' को बचाना चाहता है। वास्तव में हर कवि का पहला और दूसरा कदम (कदम-पुस्तक) ही महत्वपूर्ण होता है। वही तय करता है कि कवि में दूर तलक जाने की क्षमता और ऊर्जा है कि नहीं। कुछ लोगों को दो कदम चलने में ही सदियों का समय लग जाता है। वे 'महत्वपूर्णता' और 'विशिष्टता' के ऐसे शिकार होते हैं कि चलना भूलकर सिर्फ देखना भर ही ध्यान केंद्रित कर बैठते हैं। ज्योति चावला चल रही है। यह चलना कम महत्वपूर्ण नहीं है और वह देखते हुए चल रही है; यह ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस देखने में दूसरों का न चलना, रूके रहना और कुछ लोगों को दौड़ते हुए देखना भी महत्वपूर्ण है। ज्योति चल रही है और आराम से उनका यह दूसरा कदम रखना ज्यादा आश्वस्तकारी है।

ज्योति का पहला संग्रह 'स्मृतियों और स्त्रियों' के लिए लोगों के ध्यान में आया था। यह संग्रह यथार्थ की जमीन पर भविष्य के स्वप्न के लिए सामने खड़ा है। 'झूठ बोलती लड़कियां' से लेकर 'मेरी दुनिया के बच्चों' तक तिरपन कविताओं से सजा यह संग्रह 'जैसे कोई उदास लौट जाए दरवाजे से' यथार्थ का अद्भुत बितान रचती है।

इधर समकालीन कविताओं में नकली यथार्थ अर्थात कुछ कवियों के यहां अमूर्त कविताएं हैं। लेकिन ज्योति चावला के यहां वास्तविक यथार्थ की तरल-सरल छवियां हैं। इतनी सरल की विश्वास ही नहीं होता कि इन विषयों पर इतनी अच्छी कविताएं लिखी जा सकती हैं। 'दिल्ली मेट्रो का लेडीज कूपा' एक वैसी ही कविता है। दिल्ली का मेट्रो किस तरह लड़कियों के लिए एक आजाद शहर में तब्दील हो जाता है, जहां वे खुली सांस ले पाती हैं। अपने उलझे बालों को सुलझा सकती है। सचमुच महसूस करती है अपनी आजादी यहां 'झूठ बोलती लड़कियां' भी सच्ची-मुच्ची अच्छी लगती है। अच्छा लगता है उनका झूठ बोलकर कुछ पल चुरा लेना। वास्तव में लड़कियों के प्रति हमारे समाज का जो रवैया है, उसमें एक लड़की ही उनकी सच्ची आजादी को 'फील' कर सकती है। लड़की यदि कवयित्री हो तो उस 'फील' को पाठकों तक संप्रेषित भी कर सकती है। ज्योति चावला इस संप्रेषण में सफल है। इतनी आसानी से वे, उनकी भावनाओं को कविता में लाती है कि कविता आत्मवक्तव्य या आत्मकथा में तब्दील हो जाती है। सिर्फ उनकी आजादी या दुख-दर्द ही नहीं, जब वे उनके जीवन के वसंत का वर्णन करती है तब भी उनकी कविता में नहीं ठोसपन दिखता है। 'झूठ बोलती लड़कियां', 'नकारने की भाषा', 'दिल्ली मेट्रो का लेडीज कूपा', '2014 की बारिश में भीगती लड़कियां', 'मैं तुम्हारे हर पल खुश रहने का राज जानना चाहती हूं', 'उस लड़की के लिए', 'यह एक दृश्य है जिसमें लड़की पियानो बजा रही है', आदि कविताएं हैं जहां कविता, कविता से थोड़ा होड़ लेकर जीवन में तब्दील हो जाती है।

यह तब्दील होता जीवन, बड़े और विशिष्ट जीवन की याद दिलाता है जिसे अशोक वाजपेयी जैसे कला चिंतक 'पुरखों की आवाज' कहते हैं। ज्योति के यहां ऐसी कई कविताएं हैं जो पुरखों की आवाज का 'एक्सटेंशन' है। मैं दो कविताओं का जिक्र करना चाहूंगा। एक है-'तुम्हारा पहला दांत टूटने पर' जिसमें एक मां अपनी बच्ची के पहले दांत टूटने पर जो महसूस करती है। उसका

वर्णन है। केदारनाथ सिंह की भी एक ऐसी ही कविता है, जिसमें कवि अपने पहले टूटे हुए दांत की स्मृति को याद करता है। एक कविता और है, जिसमें ज्योति कहती हैं-

''उसके चेहरे पर मुस्कान है और
आंखें लगभग मुंढ़ी-सी
पियानो बजाती हुई लड़की पियानो बजा रही है
या कि लीन है समाधि में।'' (पृ. 103)

क्या आपको 'केश कंबली' की याद नहीं आती है? अच्छी कविता, अपनी परंपरा से एक संवाद है। एक जीवंत संवाद। यह संवाद एक तरफा हो ही नहीं सकता। जितना आप देखते-सुनते, पढ़ते-गुनते हैं; उतनी ही अपनी परंपरा से जुड़ते हैं। उसे समृद्ध भी करते हैं।

हिंदी में होनेवाले बच्चे को केंद्र में रखकर बहुत ही कम कविताएं लिखी गई हैं। इसकी एक समृद्ध परंपरा भी नहीं रही है। छिटपुट-छिटपुट लेखन होता रहा है। या तो बच्चों की भाषा और संवेदना के धरातल पर उतर कर बच्चों जैसी कविताएं लिखी गई या उन्हें उपेक्षित किया गया। ज्योति चावला के यहां होनेवाले बच्चे को लेकर जो अभी गर्भ में है, कुछ अच्छी कविताएं हैं। यह एक काम-काजी, सभा-गोष्ठियों में जानेवाली महिला का अनुभव है। जहां एक मां अपने अजन्मे बच्चे को भीड़ की नजरों से छुपाकर देखती-प्यार करती है। वह एक बेहद सुगठित और सुचिंतित गोष्ठी में बैठी है और दुनिया को बदल देने का गंभीर विचार सुन रही है। तभी ''तुम करवट लेते हो ठीक मेरे पेट के भीतर/यह तुम्हारे आने के क्रम में मेरी गर्भावस्था का आठवां महीना है।'' (पृ. 25) लेकिन जो मां अपने होनेवाले बच्चे को इतना प्यार करती है, वहीं मां पेट के अंदर ही गर्भ में मार दिए गए बच्चे को लेकर हाहाकार कर उठती है। देखें-''अठमाहे गर्भ को अपनी देह में छिपाए/दीवार से सिर टिकाए वह स्त्री मृत पड़ी है/यह अखबार में छपी एक तस्वीर है/जहां भीषण त्रासदी के निशान बिखरे पड़ें हैं यहां-वहां ... यह मेरे समय का भयानक सच है/कि चारों तरफ मचा है हाहाकार/और अजन्मे ही लौट जा रहे हैं बच्चे। ऐसे जैसे कोई उदास लौट जाए दरवाजे से।'' (पृ. 43-44) इस कविता का शीर्षक हैं 'उदासी' लेकिन इसकी अंतिम पंक्ति ही संग्रह का नामकरण करती है-जैसे कोई उदास लौट जाए दरवाजे से। मुक्तिबोध कहा करते थे, साहित्य में कौन किस सतह से बोल रहा है; यह जरूरी है। 'उदासी' कविता और उसकी अंतिम पंक्ति ज्योति चावला की सतह का बयान कर देती है। यह वही सतह है जहां अठमाहा गर्भ लिए एक स्त्री सभा-संगोष्ठी में जाती है तो एक दूसरी स्त्री, जिसमें गर्भ में ही क्रूरता के साथ उसके अठमाहे बच्चे समेत उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है, के संवेदना से अपनी सहृदयता के तार को झंकृत करती है। हाहाकार करती है। इस संवेदनहीन समय को अपने काव्य संग्रह के

ज्योति चावला

शीर्ष पर लाती है। गहरी संवेदना से व्यथित होकर ही, ऐसी कविताएं निकलती है और इसके लिए चाहिए मातृ हृदयता। मुक्तिबोध के शब्दों में ज्ञानात्मक संवेदना-संवेदनात्मक ज्ञान। ज्योति की सतह का पता तो इस कविता से भी चल जाता है जो मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' को केंद्र में रखती हुई 'अंधेरे में' और 'उसके बाद' है। यह इस संग्रह की सबसे लंबी कविता है लेकिन मुक्तिबोध के बाद के समय को काफी स्पष्टता के साथ सामने रखती हैं-''तुम्हारे समय की अंधेरी काली रात/जिसमें निकलते हैं चोर, डाकू, नेता, अपराधी कवि/ बुद्धिजीवी, कलाकार और कलमकार अंधेरे की चादर में/वह अब खिलकर दिन का उजाला हो गई है।'' (पृ. 92) उजाले में सबकुछ स्पष्ट दिखता है, लेकिन कुछ लोग देखना नहीं चाहते। उन्हें अपने घर में बूढ़ी नानी या दादी बुढबुढाते हुए नहीं दिखती। झूठ बोलकर सच को जीती हुई लड़कियां नहीं दिखती।

लड़कियों, खासकर के छोटी बच्ची पर इस संग्रह में कई कविताएं हैं। उसके सपनों, रंगों, बड़े होते शरीर और मां की चिंताओं के साथ यथार्थ का यह नजदीकी रंग है। मां की चिंताओं का रंग है।

मां, सबकी मां है। इसलिए जब एक मां अपने बच्चे की चिंता करती है तो वह दुनिया के सारे बच्चों की चिंता करती है। वह थोड़ा इंतजार करने को कहती है, ताकि बेहतर दुनिया बना सके-

''मेरी दुनिया के बच्चों
थोड़ा इंतजार करो कि
बना रही हूं तुम्हारे लिए कर सुरक्षित घर
अपनी कविताओं के भीतर
देखो तो सजाई हैं इसकी दीवारें मैंने
तितली, गोरैया और फूलों की बड़ी-बड़ी तस्वीरों से।'' (पृ. 111)

इन तस्वीरों के माध्यम से वह उनके सपनों को बचाए रखना चाहती हैं। वह सितारे, रंग, तितलियां, जुगनू, बारिश, बादल, इंद्रधनुष के बहाने बच्चों की इच्छाओं-आकांक्षाओं को जिलाए रखना जानती है। वह तो ऐसी मां है जो उसके पिता से कह उठती हैं-

''सुनों, आज मैं तुम से एक वायदा चाहती हूं
मेरे गर्भ में पल रही संतान यदि बेटी हो
तो तुम उसे बेटी ही कहकर पुकारोगे उम्र भर।'' (पृ. 13)

यह बेटी को बेटी कहकर पुकारे जाने का वायदा चाहना मां को अपने अस्तित्व के प्रति सावधान होना है। बेटी के अस्तित्व के प्रति भी। इस संग्रह में छोटे बच्चों और बेटियों की अनुभूतियों के साथ-साथ मां की सहज अभिव्यक्ति की ढेरों कविताएं हैं-'मैं उसके लिए उसकी पहचान चाहती हूं', 'दुविधा', 'तुम्हारा होना', 'बेटी की गुल्लक', 'बेटे के लिए', 'मेन एट वर्क यानी आदमी काम पर हैं', 'माफीनामा', 'उदासी', 'बेबसी-सी है कुछ', 'बड़ी हो रही बेटी के लिए', 'तुम्हारा पहला दांत टूटने पर', 'कथक सीखते हुए', 'सपने, रंग, सितारे और देह', 'बेटी, रंग और सपने', 'पहचान', 'तुम्हारे स्कूल का पहला दिन', 'तुमने सीख ली है कला दूरियां पाटने की', 'वह दस साल की नन्हीं बच्ची थी और मेरी सुविधा के बच्चों'! बच्चों पर इतनी सारी कविताएं, मां की कविताएं नहीं चिंताएं हैं। बच्चों की बेहतरी के लिए की गई चिंताएं।

चिंताएं तो समाज की बेहतरी के लिए भी काफी है। जहां एक रचनाकार अपने समय-समाज में बहुरूपिए की शिनाख्त कर रहा है और लोगों को सावधान भी कि-

''इन दिनों घूम रहा है बहुरूपिया अलग-अलग रंगों में
उसके झोले में है न जाने कितने भेस
न जाने कितने चेहरे, न जाने कितने रूप
वह क्षण-क्षण बदलता है रूप और
दुनिया में बैठे लोग रंगीन टीवी पर देखकर
उसकी तस्वीर रीझते रहते हैं उस पर
वह बदलता है मुखौटा और घुस जाता है भीड़ में।''
बहुरूपिया अभी सात समंदर पार बजा रहा है नगाड़ा
और खींच रहा है नई तकनीक से नई तस्वीरें
और यहां धरती के उस अंधेरे कोने में
रखकर अपनी जीभ पर सल्फास की गोली
सो गया है एक और किसान चुपचाप।'' (पृ. 63-65)

यह बहुरूपिया कौन है? क्या करता है? क्यों किसान सल्फास खाता है? इसकी चिंताएं भी जेनुईन चिंताएं हैं।

वास्तविक चिंताओं से भरा यह संग्रह आपको बेचैन करेगा, समाज का आईना आपको दिखाएगा; आपकी अच्छी और प्यारी नींद में खलल डालेगा। यदि आप इसके लिए तैयार हैं तो 'जैसे कोई उदास लौट जाए दरवाजे से' ठीक उसी तरह आप इस संग्रह को पढ़े।

वैचारिक

जेलों में बंद कैदियों की दास्तान

प्रीति प्रकाश प्रजापति

साहित्यकार

संपर्क :
हिंदी विभाग, लेडी श्री राम कॉलेज फॉर वीमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. 9013594104

यह पुस्तक डासना जेल के माध्यम से एक ओर भारतीय जेलों में बंद कैदियों की विडंबनापूर्ण स्थिति, समाज द्वारा इनके प्रति अपनाए जाने वाले तिरस्कार और उपेक्षापूर्ण रवैए को तो उजागर करती ही है, साथ ही कानून, मीडिया और व्यवस्था की भूमिकाओं पर भी तीखे सवाल उठाती है। यह भी उल्लेखनीय है कि लेखिका का नजरिया नकारात्मक, हताशापूर्ण और निराशावादी नहीं है। उनका केंद्रीय सरोकार मात्र दोषारोपण और छिद्रान्वेषण करना नहीं, वरन अंधकारपूर्ण यथार्थ के बीच रोशनी की उस मद्धिम लौ को जलाए रखना है जिससे कल संभावनाओं का उजाला फैल सके।

'तिनका तिनका डासना' विषय सामग्री, लेखकीय व्यक्तित्व और अभिव्यंजना शैली तीनों ही दृष्टियों से वर्तिका नंदा की एक महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय पुस्तक है। यदि विषय को लें तो यह सामान्य से हटकर इस अर्थ में है कि यह उस जनसमुदाय के उन जीवन पृष्ठों को हमारे समक्ष खोलता है जो सामान्यतया बंद दीवारों के बीच पड़े-पड़े बीतते समय के साथ गलते चले जाते हैं। जिन पर लिखी इबारत अनचीन्हीं ही रह जाती है। ये उपेक्षित जीवन उन जेलवासियों के हैं जो हाशिए के समाज की परिधि से भी छिटककर एक नए हाशिए में तब्दील हो जाते हैं। जिनकी सिसकियां, हिचकियां और आर्त पुकार जेल की दीवारें सुनती तो हैं पर चुपचाप अपने सीने में दफ्न कर देती हैं। जहां तक लेखक की स्थिति और सरोकार का प्रश्न है तो जेल की जीवन पद्धति को यथार्थपरक समग्रता में उभारने वाला अपने आप में यह एक अनूठा प्रयास है, जो स्त्री लेखन के एक नए आयाम को हमारे समक्ष उद्घाटित करता है। अनुभव और व्यवहार जगत से चिंतन और संवेदना तक एक लंबी यात्रा और अंत में संवेदना का लेखन में रूपांतरण। इस कष्टकर एवं श्रमसाध्य प्रक्रिया को एक सार्थक परिणति प्रदान करना लेखिका के अदम्य साहस, प्रतिबद्धता, लगन और सर्जनात्मक क्षमता का प्रमाण है। अतः चेतना को झकझोरने वाली यह विचारोत्तेजक पुस्तक एक श्रेष्ठ उपलब्धि है।

लेखिका के अपने शब्दों में, ''इस पूरी किताब को साहित्य और पत्रकारिता के कुछ तय मापदंडों से हटकर लिखा है। जो दिखा, जो देखा, उसे लिखा। यहां खबर में कहानी है, कहानी में खबर है और दोनों में पूरा सच है। दोनों में इंसान है। जिन्होंने जेल नहीं देखी, उनके लिए यहां जेल के तकरीबन हर अंश को मैंने समेटने की कोशिश की है।'' (तिनका तिनका डासना, पृ. 13)

लेखिका अपराधी समाज के बीच स्वयं जाकर उनसे सीधे संवाद का साहस जुटाती हैं। इस संवाद के माध्यम से वे परस्पर विश्वास का सेतु निर्मित कर, उनके मर्मस्थल की थाह लेती हैं। एक ओर जहां वे पूर्वाग्रह मुक्त होकर फैसले का इंतजार कर रहे अपराधी मान लिए गए लोगों के मनोविज्ञान को समझने का प्रयास करती हैं, तो दूसरी ओर पीड़ा, पश्चाताप, विवशता, आक्रोश, अपराध-बोध से उद्वेलित हृदयों की जटिल मनःस्थिति से गहन संवेदनात्मक धरातल पर जुड़ते हुए सच्चाई और ईमानदारी के साथ उसे व्यक्त भी करती हैं जो उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता, संवेदनशीलता व सकारात्मक सोच का प्रमाण है।

वर्तिका ने इन विषादयुक्त हृदयों के अंधकारपूर्ण कोनों में झांकने के साथ-साथ इनमें छिपी आशा, आकांक्षा, आस्था, सहृदयता, प्रेम और उत्साह जैसी सकारात्मक वृत्तियों को लक्षित किया है। यही नहीं, उनमें विद्यमान मनुष्यता के उस निर्मल स्रोत को सर्जनात्मकता में ढालकर उन्हें सकारात्मक ऊर्जा में रूपांतरण के लिए प्रेरित भी किया है।

इस किताब में विशाखापत्तनम के रहने वाले विवेक स्वामी की बनाई पेंटिंग भी प्रमुखता से शामिल है। वह भी डासना में बंदी था।

''मेरे स्कैच करके दिए गए आइडिया को उसने जिस लगन और सूझबूझ के साथ बनाया, वह तारीफ से परे है।''

''दीवार पर बनाई गई यह पेंटिंग करीब 10 साल तक इसी तरह बनी रहेगी। इस पेंटिंग का एक सिरा अंधेरे में है जहां चांद और सितारे दिन में जगमगाते दिखेंगे। दूसरे सिरे में उस गाने का एक अंश है जिसे मैंने लिखा है पर बंदियों ने गाया है। मेरा मन था कि यह दीवार इस जेल के लिए शक्ति-पुंज बन जाए। इसकी परिकल्पना यही सोच कर की गई थी कि यह बंदियों को चैबीसों घंटे किसी भरोसे से जोड़े रखे। शायद ऐसा ही हुआ भी है।'' (वही, पृ. 15-16)

इस पुस्तक को पढ़ते हुए मुझे यह महसूस हुआ जैसे मैं

पुस्तक :
तिनका तिनका डासना
लेखिका : वर्तिका नंदा
प्रकाशक :
तिनका तिनका डासना फाउंडेशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 192
मूल्य : ₹ 500

एक लंबी कथात्मक कविता पढ़ रही हूं, जिसमें संवेदना का सघन प्रवाह है, तथ्यों से दृश्यों में रूपांतरित होते मर्मस्पर्शी बिंब हैं जिनके मूल में अनुभव और विचारधारा के घात-संघात से उत्पन्न मानवीय सरोकारों से उत्प्रेरित, सचेत, सूक्ष्म और पैनी आलोचनात्मक दृष्टि सक्रिय है। लेखिका का रचनात्मक संस्कार पत्रकार और कवयित्री दोनों रूपों से मिलकर निर्मित हुआ है। इसी से जहां एक और संवेदना तथ्यों के ठोस धरातल पर प्रवाहित हुई है, वहीं दूसरी ओर संवेदना के आर्द्र संस्पर्श से तथ्य और आंकड़ें जीवंत सत्य के रूप में उभर पाए। कोरी भावुकता और रूखे तथ्य वर्णन के स्थान पर यहां जेल जीवन का ऐसा मार्मिक यथार्थ चित्रण है जिसमें सच इकहरा और एकांगी रूप में न आकर परत-दर-परत खुलता चला जाता है।

''यहां हर वो बात जरूरी है जिसे आजादी का कायदा बेमानी मानता है।''

जो अंदर है, वो बाहर से आए इस 'अपने' को अपने कुशल-मंगल होने का भरोसा दिलाता है। शब्द बार-बार कहते हैं - वह ठीक है पर शरीर और आंखें वैसा कह नही पातीं। जो बाहर है, वह भी कहता है कि सब ठीक है पर उसका भी न तो शरीर और न ही आंखें वैसा कह पाती हैं। शरीर झूठ नहीं कह पाता। आंखें भी सच छुपा नहीं पातीं। आने वाला उम्मीद भरे शब्दों की पोटली लाता है। सुनने वाला उस पोटली से थोड़ी देर खेलता है। पोटली दोनों के बीच कहीं छूट जाती है।'' (वही, पृ. 29)

प्रत्यक्ष चित्रण का केंद्र जेल के भीतर का जीवन है किंतु पृष्ठभूमि के रूप में अप्रत्यक्षतः बाह्य सामाजिक जीवन का बहुआयामी चित्र भी उभरता जाता है। लेखिका ने इस पुस्तक में अपराधों की रिपोर्टिंग करने वाली मीडिया की भूमिका पर भी प्रश्न चिह्न लगाए हैं। वह मीडिया जो सदा सच को जनता के सामने लाने का दावा करती रही है जो न्यायालय के फैसले से पूर्व ही अपने निष्कर्ष देने लगती है। सनसनी उत्पन्न करने की होड़ में तथ्यों को तोड़-मरोड़कर मनगढंत कहानियां परोसती है। अपने गैर जिम्मेदाराना आचरण से लोगों के जीवन को किस प्रकार लांछन और अपमान के यातनापूर्ण अंधकार में धकेल देती है। इस पर लेखिका की बेबाक टिप्पणी देखी जा सकती है-

''कहीं बात मीडिया की भी करनी होगी। लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में मीडिया ने बेशक संवाद को पहिए लगा दिए हैं और देश के विकास को भी। मीडिया सक्षम, सबल और समर्थ हुआ है लेकिन कई बार अपने रोल में मीडिया चूका भी है। किसी खबर को देने की हड़बड़ी। कहीं कोई खबर पहले छीन न ले-इस

'तिनका तिनका डासना' विषय सामग्री, लेखकीय व्यक्तित्व और अभिव्यंजना शैली तीनों ही दृष्टियों से वर्तिका नंदा की एक महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय पुस्तक है। जहां तक लेखक की स्थिति और सरोकार का प्रश्न है तो जेल की जीवन पद्धति को यथार्थपरक समग्रता में उभारने वाला अपने आप में यह एक अनूठा प्रयास है, जो स्त्री लेखन के एक नए आयाम को हमारे समक्ष उद्घाटित करता है।

भागमभाग में बहुत बार जिंदगियां छिन जाती हैं।'' (वही, पृ. 12)

लेखिका ने आरुषि हत्याकांड के आरोपी उसके माता-पिता तलवार दंपत्ति के विडंबनापूर्ण जीवन का चित्रण करते हुए इस दारुण स्थिति को बड़ी साफगोई के साथ उजागर किया है। राजेश की भाभी वंदना का जिक्र करते हुए वे लिखती हैं -''वे मीडिया से संपर्क बनाए रखने की कोशिश करती हैं ताकि खलिश कहीं तो कम हो । बार-बार यह अहसास गहराता है कि इस मामले की रिपोर्टिंग में मीडिया अपने तयशुदा रोल से कहीं आगे और कहीं जल्दी निकल गया।''

''वंदना को कचोटता है कि लोगों को यह कहां याद कि सरकार ने भी मीडिया के एक हिस्से को गैर-जिम्मेदाराना माना था। लोगों को शायद सिर्फ वही याद है जो उन्हें परोसा गया था। तस्वीरों से जुड़ी याददाश्त कब और कैसे मिटेगी, इसकी चुभन उन्हें चैन नहीं लेने देती।'' (वही, पृ. 59)

नूपुर और राजेश तलवार दोनों पति-पत्नी सन् 2008 में अपनी इकलौती पुत्री आरुषि और नौकर हेमराज की हत्या के इलजाम में डासना जेल में बंदी रहे। लेखिका द्वारा वर्णित दोनों के व्यक्तित्व, स्वभाव और जेल में उनके रहन-सहन को देखकर एक शातिर और खूंखार अपराधी के रूप में, वह भी अपनी पुत्री के हत्यारों के रूप में उनकी कल्पना कर पाना जैसे सहसा विश्वास ही नहीं होता। लेखिका हमारे समक्ष मानवीय सरोकारों व संवेदना से युक्त वह नजरिया रखती है जिसकी रोशनी में हम सच को नए सिरे से जानने और तलाशने के लिए बेचैन हो उठते हैं। ऐसा महसूस होने लगता है जैसे जो तथ्य सामने आए हैं या लाए गए हैं वह हत्या की इस गुत्थी को सुलझाने के लिए नाकाफी हैं। न्यायतंत्र को और अधिक तत्पर, सक्रिय व दुरुस्त होने की जरूरत है।

राजेश और नूपुर तलवार के अतिरिक्त लेखिका ने इस पुस्तक में कुछ और कैदियों के विषय में भी चर्चा की है, जिनमें से कुछ के नाम हैं- सुरिंदर कोली, रवींद्र कुमार, राजेश झा, विजय बाबा, रमेश, आशाराम गिरि, प्रशांत, विवेक।

इनमें से अधिकतर लोग हत्या के मामले में लंबी सजा काटने वाले कैदी हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें से अधिकांश मानसिक वेदना झेलते हुए भी जेल में अपनी सकारात्मक भूमिका में सक्रिय रहते हैं। राजेश और नूपुर तलवार डेंटिस्ट हैं। रिहा होने से पूर्व वे जेल में कैदियों के दांतों का इलाज करते रहे। विजय बाबा योग की कक्षाएं लेते हैं। प्रशांत हार्डवेयर इंजीनियर हैं, जेल में कंप्यूटर से जुड़े हर मसले को सुलझाने में सबसे आगे रहते हैं। आशाराम गिरि ने जेल में ही अपनी एक गायन-मंडली तैयार की और विवेक ने अपनी चित्रकला से जेल की दीवारों को सजाया।

लेखिका ने अपनी इस पुस्तक में कुछ कैदियों की कविताएं भी संकलित की हैं जिनमें से राजेश व नूपुर तलवार की कविताओं का अनुवाद उन्होंने स्वयं किया है। ये कविताएं इन लोगों के जीवन में व्याप्त तमाम निराशा, हताशा, वेदना और पीड़ा के बावजूद इनकी चेतना में विद्यमान रचनात्मक ऊर्जा को व्यक्त करती हैं।

डॉ. नूपुर तलवार - सिर्फ़ चुप्पी...

''सिर्फ़ चुप्पी
क्यों इतना दर्द, क्यों इतनी नफरत
क्या कोई सच दिखाएगा अपना चेहरा
या फिर मेरी जान
इस चुप्पी के बीच कहीं सूख जाएगी
सवाल बहुत हैं
लेकिन जवाब में मुझे मिलती है
सिर्फ़ चुप्पी'' (वही, पृ. 65)

गुड्डू गोसाईं - मेरा मन

''मेरा मन मुझसे कहता है
मैं भी एक इतिहास लिखूं
अब तक जो दुनिया ने जाना
उससे भी कुछ खास लिखूं''
इस देश की खातिर लोगों ने कितना खून बहाया है
किसी ने अपना भाई किसी ने अपना लाल गंवाया है
मर मिटे जो देश की खातिर उनकी आखिरी सांस लिखूं'' (वही, पृ. 125)

अरुण शर्मा - हौंसलों का विमान

''घेरेगा जब कोई तूफान हमें, थोड़े से घबराएंगे
साथ देगा तूफान का आसमा, काले बादल मंडराएंगे''
हंसी के लम्हे अच्छे हैं, पर ना भूलो उन गमों को
आखिर में ये गम ही आगे चलने की राह दिखाएंगे'' (वही, पृ. 133)

'तिनका तिनका डासना' पुस्तक जेल जीवन से जुड़े एक बेहद मार्मिक पहलू को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ उभारती है। जेल का वह तबका जो अबोध है, निश्छल है, जिसे अपराध शब्द का अर्थ भी ज्ञात नहीं, अपनी स्थिति और नियति दोनों से बेखबर वे बच्चे हैं, जो या तो जेल में ही पैदा होते हैं या शैशव अवस्था में ही अपनी अपराधी मांओं के साथ जेल में रहने को विवश होते हैं। यह गनीमत है कि जेल में उत्पन्न होने वाले बच्चों का जन्मस्थान 'जेल' नहीं लिखा जाता। किंतु उन्हें अपनी मां के साथ अधिकाधिक छः वर्ष की उम्र तक रहने की इजाजत होती है। उम्र के वे सबसे नाजुक और महत्वपूर्ण वर्ष जिनमें बच्चों के मानसिक विकास की नींव तैयार होती है, इन बच्चों को जेल में बिताने पड़ते हैं।

जेल ही उनकी जीवन-अध्ययन की पहली पाठशाला बन जाती है। लेखिका ने जेल के भीतर इन बच्चों के जीवन, रहन-सहन और वातावरण का ऐसा सजीव और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है जिसे पढ़कर कठोर-से-कठोर हृदय भी द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता।

''यह क्रेश है। नन्हीं जानें यहां बड़ी तरतीब से बैठी हैं। पर उनकी शरारत नदारद है। ये बच्चे सिर्फ अपनी उम्र और आकार से बच्चे हैं। हंसी गायब है। समय से पहले बूढ़े हो गए हैं यह।'' (वही, पृ. 35)

''यहां खिलोने हैं थोड़े से। मिट्टी के ढेले से आकार बनाने की मस्ती इनमें पनपी ही नहीं है।''

''सात रंग हाथ में थाम कर भी इन बच्चों को काला रंग ही ज्यादा दीखता है। या सब स्याह। रंगों को कहां पता कि उनकी पहचान का एक ताल्लुक इस बात से भी है कि उनसे परिचय कब और कहां करवाया जा रहा है। इन बच्चों ने इंद्रधनुष कहां देखे। इन्होंने मां के साथ एक काली परछाई देखी है। वही एक रंग है जो सपनों में इनका पीछा करता है। वही इनका परिचय कहता है। जाने कौन, कब इस काले रंग को पोंछेगा या पोंछेगा भी या नहीं।'' (वही, पृ. 36)

लेखिका के अनुसार जेल में रह रहे इन बच्चों को पढ़ने-लिखने की कुछ सुविधाएं अवश्य मुहैया करवाई जाती हैं जिनसे उन्हें

जेल जीवन का चित्रण करते हुए वर्तिका नंदा ने विभिन्न प्रसंगों में जेल प्रशासन और अधिकारियों की सहृदयता और संवेदनशीलता का उल्लेख भी किया है।अनेक नियमों में बंधे होने पर भी इन अधिकारियों ने सकारात्मक रवैया अपनाते हुए कई ऐसे रचनात्मक कदम उठाए हैं, जिनसे सीमित स्तर पर ही सही, कैदियों के जीवन में बदलाव की आहट सुनाई पड़ने लगी है।

पाठशाला का आभास तो मिल जाता है, किंतु ये बच्चे उत्साह और रोचकता से पूर्ण उन अनुभवों से वंचित ही रह जाते हैं, जो एक साधारण बालक को विद्यालयी जीवन में सहजता से मिल जाते हैं। विद्यालय ही नहीं, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के ऐसे कितने ही छोटे-छोटे अनुभवों से ये अछूते ही रह जाते हैं जो बचपन की अमूल्य निधि हैं और जो उनके व्यक्तित्व के निर्माण का आधार हो सकते हैं। पुस्तक में प्रस्तुत वर्णन और विवरण चेतना के स्तर पर केवल हमें उद्वेलित ही नहीं करता वरन क्षुब्ध भी करता है। यह जहां एक और चिंतन और मनन के लिए विवश करता है, वहीं दूसरी ओर इस सर्वथा उपेक्षित कर्म-क्षेत्र में सक्रिय होने को उत्प्रेरित भी करता है। लेखिका ने प्राप्त तथ्यों, आंकड़ों, शोध-रिपोर्टों और सुप्रीम कोर्ट के निर्णय का संदर्भ देते हुए जेलों में गर्भवती महिलाओं और बच्चों की उचित देखभाल की दिशा में सरकार और विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले प्रयासों का उल्लेख भी किया है किंतु कुल मिलाकर स्थिति अब तक अत्यंत शोचनीय बनी हुई है। इस दिशा में व्यापक स्तर पर बदलाव लाने के लिए यह जरूरी है कि केवल सरकार को दोषी ठहराने के स्थान पर प्रत्येक नागरिक संवेदनशील होकर सोचे और अपनी ठोस भूमिका का निर्वाह करे।

जेल जीवन का चित्रण करते हुए लेखिका ने विभिन्न प्रसंगों में जेल प्रशासन और अधिकारियों की सहृदयता और संवेदनशीलता का उल्लेख भी किया है। अनेक नियमों में बंधे होने पर भी इन अधिकारियों ने सकारात्मक रवैया अपनाते हुए कई ऐसे रचनात्मक कदम उठाए हैं, जिनसे सीमित स्तर पर ही सही, कैदियों के जीवन में बदलाव की आहट सुनाई पड़ने लगी है।

'इंडिया विजन फाउंडेशन' (एक एनजीओ) द्वारा डासना जेल में कंप्यूटर लैब की स्थापना को अनुमति देना जेल प्रशासन का ऐसा ही एक सकारात्मक निर्णय है। इसके अंतर्गत कैदियों के लिए कंप्यूटर प्रशिक्षण का सुचारू प्रबंध किए जाने से मानो उनमें एक नई स्फूर्ति और उत्साह का संचार हो गया है।

''उम्मीदों के सूखे संसार में एक टूटी हुई कलम या एकदम पुराना कंप्यूटर भी मन में बहुत-सी आशाएं भर सकता है।''

''हालांकि कंप्यूटर की एक बड़ी सुविधा बंदियों को बाहर की दुनिया से जोड़े रखने की हो सकती है लेकिन जेल के अपने कुछ नियम हैं। जेलें सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर संवाद की अनुमति नहीं देती लेकिन तब भी कंप्यूटर से परिचय कम से कम समय के साथ बदलती तकनीक से चलने का सामर्थ्य तो देता ही है।'' (वही, पृ. 91)

कुल मिलाकर यह पुस्तक डासना जेल के माध्यम से एक ओर भारतीय जेलों में बंद कैदियों की विडंबनापूर्ण स्थिति, समाज द्वारा इनके प्रति अपनाए जाने वाले तिरस्कार और उपेक्षापूर्ण रवैए को तो उजागर करती ही है, साथ ही कानून, मीडिया और व्यवस्था की भूमिकाओं पर भी तीखे सवाल उठाती है। यह भी उल्लेखनीय है कि लेखिका का नजरिया नकारात्मक, हताशापूर्ण और निराशावादी नहीं है। उनका केंद्रीय सरोकार मात्र दोषारोपण और छिद्रान्वेषण करना नहीं, वरन अंधकारपूर्ण यथार्थ के बीच रोशनी की उस मद्धिम लौ को जलाए रखना है जिससे कल संभावनाओं का उजाला फैल सके। 'तिनका तिनका डासना' इस विश्वास को और सुदृढ़ करती है कि 'एक दिया अनेक दियों को जला सकता है, जरूरत है बस शुरुआत करने की'।

कहानी

व्यंग्यबोध की कहानियों में आज का मध्यवर्गीय समाज

नीरज खरे

आलोचक

संपर्क :
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, काशी
हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005,
(उ.प्र.)
मो. 09450252498

कहानीकार रमाकांत श्रीवास्तव अपने आस-पास के व्यक्तियों और घटनाओं को देखते-परखते हुए नाटकीय वातावरण निर्मित करते हैं। इस क्रम में वे आज के समय-समाज की दशा और दिशा का संधान करते हैं। उनकी सामाजिक-वैचारिक प्रतिबद्धता का पक्ष स्पष्ट है, पर कथाकार की प्रतिबद्धता के आशय वैचारिकता के मुहावरे नहीं बनते। कथाकार की प्रतिबद्धता, प्रायः शहरी व्यक्तियों और उनके कार्य-व्यवहार में नजर आती है, किसी प्रकार के वैचारिक आरोपण में नहीं। इस संग्रह की कुछ कहानियां समाज के मध्यवर्गीय चरित्रों के जरिए सामाजिक बदलावों या स्थितियों को देखने-समझने की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। समकालीन कहानी में उनकी मौजूदगी इसी कारण विशिष्ट है।

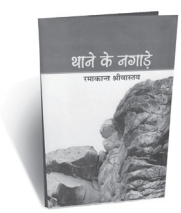

पुस्तक :
थाने के नगाड़े
लेखक :
रमाकांत श्रीवास्तव
प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 104
मूल्य : ₹ 170

वरिष्ठ कहानीकार रमाकांत श्रीवास्तव की कहानियों में समयबद्ध दृष्टि की निरंतरता और रोचक कथापन उल्लेखनीय है। समकालीन कहानी में उनकी मौजूदगी इसी कारण विशिष्ट है। 'मध्यांतर', 'स्याही सोख़्ते', 'खानदान में पहली बार', 'बेटे को क्या बतलाओगे' और 'टोरिकल का शहर' के बाद 'थाने के नगाड़े' उनका नया और छठा कहानी-संग्रह है। चौथा संग्रह 'बेटे को क्या बतलाओगे' रचनात्मक उपक्रमों की नवीनता से चर्चित रहा था। कहानी में अर्जित विश्वास की यह रचनात्मक सक्रियता उसके बाद भी बरकरार रही। घटनाओं की साधारणता और वृत्तांत की रोचकता में व्यंग्य और विनोद उनकी कहानियों का खास आकर्षण बनते हैं। इनसे कहानी पठनीय तो बनती ही है और अंत तक पहुंचकर कथाकार की अंतर्दृष्टि, पक्षधरता और तर्काश्रित सरोकारों का मूल्य भी रचती है। 'थाने के नगाड़े' की नौ कहानियों में से ज्यादातर में यह खासियत मिलेगी।

कहानीकार अपने आस-पास के व्यक्तियों और घटनाओं को देखते-परखते हुए नाटकीय वातावरण निर्मित करते हैं। इस क्रम में वे आज के समय-समाज की दशा और दिशा का संधान करते हैं। उनकी सामाजिक-वैचारिक प्रतिबद्धता का पक्ष स्पष्ट है, पर कथाकार की प्रतिबद्धता के आशय वैचारिकता के मुहावरे नहीं बनते। कथाकार की प्रतिबद्धता, प्रायः शहरी व्यक्तियों और उनके कार्य-व्यवहार में नजर आती है, किसी प्रकार के वैचारिक आरोपण में नहीं। इस संग्रह की कुछ कहानियां समाज के मध्यवर्गीय चरित्रों के जरिए सामाजिक बदलावों या स्थितियों को देखने-समझने की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'उनकी दहशत और हॉट डांस' में प्रोफेसर वर्मा अपनी कथित वैचारिक बेचैनी के साथ सुविधाभोगी मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं। माया कलेंडर की भविष्यवाणी और पर्यावरणीय विनाश की खबरों का दहशत फैलाता मीडियाई बाजार, दूसरी ओर हॉट डांस की सीडी और फिल्म के मनोरंजन भी हैं इन दहशतों से उबरने के लिए। इनके बीच प्रोफेसर वर्मा की वैचारिक संवेदनाएं स्थिर और क्रियात्मक नहीं हैं। मीडियाई बाजार यह करना भी दरअसल नहीं चाहता, वह उपभोक्तावादी समाज ही बनाना चाहता है। जो अपने स्वार्थों की डोर पकड़े वैचारिक टकराहट की भंवर से निकल आना चाहता है। 'साहब-बीबी और बाबा जी' में धर्म का व्यापारीकरण करने वाले बाबाओं के जाल में फंसे भयग्रस्त मध्यवर्गीय समाज का चित्र है। कहानी में रोचक मोड़ तब आता है जब अपनी धर्मभीरु पत्नी के दबाव में नितिन जलतारे बाबा जी का आतिथ्य स्वीकार कर शराब पीना तो छोड़ देते हैं। पर खुद गांजा पीने वाले बाबा जी को ऐसा सबक सिखाते हैं कि उन्हें घर छोड़कर भागना पड़ता है। भाग्यवाद और ज्योतिशीय-कर्मकांड में स्वार्थ और लिप्सा से घिरे मध्यवर्ग की उपभोक्तावादी सोच का मेल ही 'मिशन पीआरटी' कहानी है। यहां ऐसा मध्यवर्ग है जिसका लक्ष्य 'प्रोपर्टी' है। समाज में अपने मूल सरोकारों से च्युत ऐसी धार्मिकता फैल रही है जिसका सबसे बड़ा पोषक मध्यवर्ग है। इन कहानियों में ऐसे अनेक प्रसंग

आते हैं। 'संधि, विग्रह और मित्रलाभ कथा' में धर्म का व्यवसायीकरण कुछ दूसरे रूप में मौजूद है। इसमें बड़े पंडित द्वारा छोटे पंडित को दी गई नसीहत में ही मर्म निहित है- ''अरे घोंचू महाराज, इसमें इतना क्या सोचना! आजकल सबसे अच्छा धंधा है- धरम! भगवा पहनकर तो आजकल लोग मंत्री-वंत्री तक हो रहे हैं। फिर अपनी तो हजारों साल की परंपरा है। शहर आ जाओ। साईं मंदिर में पुजारी की जरूरत है। फौरन लगवा दूंगा। अब मेरा कारोबार फैल रहा है।'' (पृ. 62) छोटे पंडित शहर आकर अपने 'व्यवसाय' के सही गुर ही नहीं सीखते। शास्त्री जी की मदद से दूसरे मंदिर में पुजारी का पद हथियाकर बड़े पंडित की अधीनता से भी मुक्त होते हैं। उपर्युक्त कहानियां बदलते समय में शहरी मध्यवर्ग की प्रवृत्तियों की पड़ताल करती हैं। कहीं-कहीं ऐसे चरित्र भी हैं जिनसे कथाकार अपना तार्किक पक्ष भी रखना चाहता है। जैसे 'संधि, विग्रह और मित्रलाभ कथा' में यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर अनिल वर्मा, जो धर्म के कर्मकांडीय रूप या तुलसीदास की रचनाओं के बारे में पुरोहितवाद से अलग विचार रखते हैं।

कर्मकांडों की गिरफ्त में धर्म और समाज ही नहीं सरकारी आयोजन भी हैं। जिनमें अपने मूल सरोकारों के परे कर्मकांडों की अदायगी अधिक भारी है। कहानीकार ने 'ध्वजारोहण' कहानी में छोटी सी घटना से कथा का रोचक वृत्तांत खोज निकाला है। कहानीकार कहानी होने के 'तर्क' या 'क्राइसिस' को कैसे पकड़ता है- यह कहानी एक उदाहरण है। अगर उसे प्रतीक मानकर आशय ढूढ़े जाएं तो दूर तक जा सकते हैं। स्वाधीनता दिवस पर शहर में राष्ट्रभक्ति जागरण अपने उफान पर है और ध्वजारोहण कार्यक्रम को सफलता से करना सरकारी अमले की बड़ी चुनौती है। ऐन ध्वजारोहण के लिए मुख्य अतिथि के आगमन से पहले ध्वजदंड के मंच पर एक कुत्ते ने पाखाना कर दिया। इसके बाद अधिकारियों के सामने आसन्न खड़ी समस्या का कोई समाधान खोजा गया। उसे तुरंत हटाने का व्यवस्था हो नहीं पाती। तब स्वान उत्पात पर गोबर डालकर और उस पर चपरासी की लड़की ने सुंदर रंगोली बना दी। इसका क्षेपक काबिले गौर है जहां इस रोचक वृत्तांत में कथा 'होने' का मर्म है। लड़की कुत्ते की कृपा पर मुग्ध है जिसके कारण उसे सरकारी गाड़ी पर बैठने का सुख और

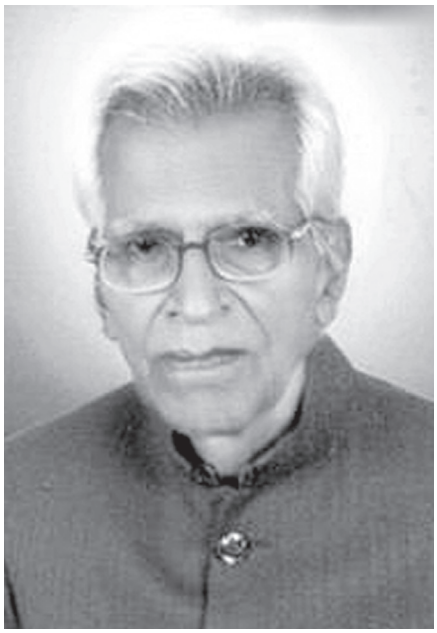

कहानीकार रमाकांत श्रीवास्तव की कहानियों में समयबद्ध दृष्टि की निरंतरता और रोचक कथापन उल्लेखनीय है। घटनाओं की साधारणता और वृत्तांत की रोचकता में व्यंग्य और विनोद उनकी कहानियों का खास आकर्षण बनते हैं। इनसे कहानी पठनीय तो बनती ही है और अंत तक पहुंचकर कथाकार की अंतर्दृष्टि, पक्षधरता और तर्काश्रित सरोकारों का मूल्य भी रचती है। 'थाने के नगाड़े' की नौ कहानियों में से ज्यादातर में यह खासियत मिलेगी।

सौ रुपया इनाम मिला था। 'प्लंबर रिजवान का सपना' सरकारी कर्मकांड और पैसों की फिजूलखर्ची का दूसरा पक्ष दिखलाती है। मंत्रियों या उच्च पदासीन हस्तियों के दौरे पर उनकी आगवानी की तैयारियां। रेस्ट हाउस के बाथरूम का कायाकल्प करते प्लंबर रिजवान के सवाल। सरकारी तंत्र का विरोधाभास हैं। एक ओर रेस्ट हाउस का शानदार बाथरूम दूसरी ओर निर्मल ग्राम योजना के शौचालयों की हकीकत। एक ओर सुविधा संपन्नता का चरम इस कदर है कि आने वाले अतिथि के पसंदीदा रंग के लिए टाइल्स और कमोड तक बदले जाते हैं दूसरी और ग्रामीण जनता के लिए मूलभूत सुविधाएं भी नहीं हैं। सरकारी अमले के निम्नवर्गीय आदमी के सवालों और सपने में चिंता और सरोकारों से जुड़े कहानीकार की दृष्टि ही यह विरोधाभास देख सकती है।

कहानी में कोई प्रवृत्ति या विमर्श का दायरा फैलता है तो उसके फैशनेबुल होने का सरलीकरण भी होने लगता है। जैसे कि कथा साहित्य में आदिवासी विमर्श- पर रमाकांत श्रीवास्तव के यहां यह सिर्फ विमर्श का मुहावरा नहीं है, बल्कि विमर्श के नाम पर होने वाले सेमिनारों और आयोजनों की उत्सवधर्मिता के बीच तार्किक प्रश्नों के द्वारा आता है। आदिवासी कल्याण के राष्ट्रीय ढोंग की दूसरी और जमीनी सच्चाई ही 'अंधी मछलियां और प्लेजर कैप्सूल' कहानी में है। आदिवासी इलाकों को हाइवे टूरिज्म की तरह विकसित करने से क्या आदिवासियों की अस्मिता सुरक्षित रहेगी? पर्यटन विभाग द्वारा जगदलपुर में आदिवासी क्षेत्र के लिए 'पर्यटन की संभावनाएं और संवेदना का प्रश्न' पर मंथन के लिए सेमीनार आयोजन और अनेक अतिथियों का वहां पहुंच कर इस पर विचार-विमर्श! इस सरकारी कर्मकांड का विचारणीय पहलू यह है कि उनके एजेंडे में आदिवासी जीवन के मूल प्रश्न अदृश्य हैं। गरज यह कि सरकार ऐसे आयोजन और विकास के नाम पर पर्यटन की सौंदर्य प्रिय योजनाओं को 'जनता के हक' और 'प्लेजर' की तरह प्रोत्साहित करती है। सबकी रुचि आयोजकों के आतिथ्य का आनंद, बस्तर के भ्रमण और सौंदर्य के दर्शन में ही ज्यादा है। सारे वृत्तांत में कहानी का पक्ष अतिथियों को भ्रमण पर ले जाने वाले गाड़ी के ग्रेजुएट आदिवासी ड्राइवर मरकाम के द्वारा खुलता है। आजादी के इतने सालों बाद भी आदिवासी अस्मिता के गौरतलब सवाल मरकाम द्वारा कहे गए हैं- जिनसे सरकारें कोटमसर की मछलियों की तरह अंधी हैं। आदिवासी अस्मिता ही नहीं आज लेखन के वैश्विक परिदृश्य पर विमर्श और सरोकारों की अहमियत लेखकों और बुद्धिजीवियों के परस्पर संवाद-विवाद के द्वारा 'राजधानी में गुमी किताब' कहानी में लिखी गई है। साहित्य में प्रतिबद्धताओं की प्राथमिकताओं के साथ आलोचना की राजनीति का पता भी यहां मिलता है। कहानीकार ने स्वयं विश्वविद्यालय में अध्यापक होने के साथ समीक्षात्मक लेखन भी किया है, जिसका प्रभाव इस कहानी में

गौरतलब है।

अपने कहन और अंतर्वस्तु के लिहाज से संग्रह की सबसे महत्वपूर्ण कहानी 'थाने के नगाड़े' है। यह वर्ण व्यवस्था की विकृतियों की कठोर सच्चाई से रू-ब-रू कराती है - शिल्प की प्रयोगशीलता के साथ। ग्रामीण समाज में जातिगत विकृतियों का अतीत अपने नाम का चोला बदलकर फिर-फिर अवतरित होता है।

कहानी में वर्ण व्यवस्था की निचली जातियों या दलित, स्त्री और प्रेम के तीन आयाम या तीन स्तर हैं।

पहला कथा की पूर्वपीठिका के तौर पर कहा गया है- 'द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय मित्र राष्ट्रों की फौजें हिटलर द्वारा बनाए गए कॉन्सेंट्रेशन कैंप में प्रविष्ट हुई तो उन्हें समझ में आया कि दरअसल वे यातना शिविर थे। एक कैंप के कर्नल के घर में फौजियों को आदमी की चमड़ी से बना एक खूबसूरत लैंप शेड मिला। कर्नल की कलाप्रेमी पत्नी ने बनाया था।' (पृ. 74) यह आरंभिक संकेत है अतीत की अमानवीयता का। दूसरा प्रकरण 'बहूमारा गांव' के नामकरण का है। अफवाह जिसके संकेत सच होने की ओर थे कि अपने लड़के के जाति बाहर प्रेम विवाह कर लेने पर रामनारायण पटेल ने अपनी बहू को कुएं में धकेल दिया था। तीसरा जो कहानी का मुख्य घटक है और जिसके सूत्र भारतीय समाज की जातिभेद की क्रूर और हिंसक अमानवीयता से जुड़ा है। घटना का तीसरा और दूसरा स्तर साथ मिला है। दोनों की भूमि बहूमारा गांव है और कहानी का मुख्य कार्य व्यापार जुड़ता है- बहूमारा गांव में पदस्थ हुए मुच्छड़ थानेदार मंगलमूर्ति शर्मा से, जिनके बारे में कहानी में लिखा गया है- ''इंस्पेक्टर शर्मा यूं तो प्रचलित कैलेंडर के हिसाब से इक्कीसवीं सदी के पांचवें वर्ष में महीने की आठवीं तारीख को बहूमारा थाने का चार्ज लेने आए थे लेकिन उन्हें देखकर लोगों को लगा कि वे चौथी या पांचवीं सदी के किसी पुराण के पन्नों से निकलकर पधारे हैं। कड़कड़ाती वर्दी में कसे-बसे जब वे चलते तो लगता कि दुर्योधन की सेना का कोई नायक सीधा कुरुक्षेत्र से चला आ रहा है।''

कहानी वर्ण व्यवस्था की जातिगत विकृतियों की जमीनी हकीकत कहती है जहां आज भी वे वैसी ही सिर उठाए खड़ी हैं। जब बांसुरी वादक रामखिलावन कुशवाहा की कला से अभिभूत थानेदार की बेटी अपाला के प्रेम की खबर थानेदार को लगी, तो शामत आई रामखिलावन पर। अंततः जिसका अंजाम क्रूरता का चरम है। बेटी की गांव से विदाई और बांसुरी की आवाज हमेशा के लिए बंद हो गई। कांस्टेबल साहू जरूरी कड़ी है जिसके द्वारा दो महत्वपूर्ण सूचनाएं थानेदार के अमानवीय और घोर हिंसक-सामंती-ब्राह्मणवादी चरित्र पर रोशनी डालती हैं, जिसका मेल उसके ओहदे से हुआ है- 'मुच्छड़ जल्लाद है।' तथा 'थानेदार और ऊपर से ब्राह्मण।' उसी

रमाकांत श्रीवास्तव की इन कहानियों में जाने-अनजाने प्रायः मध्यवर्ग को ही लक्ष्य किया गया है- वे चाहे सरकारी नुमाइंदों के रूप में हों या धर्म और भाग्यवाद की ध्वजा पकड़े खाते-पीते लोग हों! चाहे वे मंदिरों में धर्म का व्यापार करने वाले पंडित हों या पंडालों में लोगों को प्रवचन सुनाने वाले बाबा! चाहे लेखक, अध्यापक और पत्रकार! इन्हीं में से बहुतेरे मध्यवर्गीय लोगों से पर्यटन भी फलफूल रहा है। इस संग्रह की कहानियां उपभोक्तापादी समाज के ऐसे अनेक चरित्रों की पहचान करती हैं।

के द्वारा लोगों को पता चलता है कि नगाड़े की जोड़ी जो थानेदार ने थाने में कलात्मक चीज कहकर भेंट दी है- उस पर 'आदमी का चमड़ा मढ़ा है।' कर्नल की कलाप्रेमी पत्नी द्वारा बनाया गया 'लैंप शैड' रोशनी नहीं हिटलरी भय का अंधेरा फैलाता है और थाने के 'नगाड़ों' की जोड़ी संगीतमय ताल के लिए नहीं, बिना बजाय भय का उद्घोष करती है। दहशत के इन अंधेरों और निःशब्दता में सत्ता-सामंतवाद-मनुवाद की क्रूरताओं का हिंसक अट्टहास करता आतंककारी इतिहास छिपा है- आने वाली नस्लों को वर्ण व्यवस्था की हदों में रहने के लिए खबरदार करता हुआ। इक्कीसवीं सदी में आधुनिकता की ओर निरंतर गतिमान समय का समाज थानेदारों की तरह कहां ठहरा है? निहित व्यंग्य का कारुणिक संदर्भ जातिभेद के विचारों और दमन के इतिहास की यथास्थिति में है।

रमाकांत श्रीवास्तव की इन कहानियों में जाने-अनजाने प्रायः मध्यवर्ग को ही लक्ष्य किया गया है- वे चाहे सरकारी नुमाइंदों के रूप में हों या धर्म और भाग्यवाद की ध्वजा पकड़े खाते-पीते लोग हों! चाहे वे मंदिरों में धर्म का व्यापार करने वाले पंडित हों या पंडालों में लोगों को प्रवचन सुनाने वाले बाबा! चाहे लेखक, अध्यापक और पत्रकार! इन्हीं में से बहुतेरे मध्यवर्गीय लोगों से पर्यटन भी फलफूल रहा है। इस संग्रह की कहानियां उपभोक्तापादी समाज के ऐसे अनेक चरित्रों की पहचान करती हैं। सरकारी नीतियां, सरकारी काम-काज, समाज में दिखावा, धर्म का पाखंड ही नहीं साहित्यिक आयोजनों के उद्देश्यों तक में फांक दिखती है। किसी परिवर्तन के लिए बेहद अहमियत रखने वाला भारतीय मध्यवर्ग कहां और किस दिशा में जा रहा है? ये कहानियां इसकी पर्याप्त खबर रखती हैं। चरित्र की पहचान हो या किसी घटना के जरिए व्यवस्था के पाखंड का उद्घाटन- कथा के विन्यास में कथाकार व्यंग्य-विनोद की अपनी शैली अर्जित करते हुए हरिशंकर परसाई की परंपरा का विस्तार करते हैं। पर वे घटनाओं, प्रसंगों और कार्य-आचरण का विवरण देते हैं- परसाई जैसी कोई कलायुक्ति नहीं अपनाते। इसके चलते उनकी कहानियां कुछ मोनोटोनस होने जगती हैं, पर हंसोड़ गद्य ही इससे उबारने की कोशिश करता है। कहानियों के शिल्प में व्यंग्य-विनोद समाज और व्यवस्था के पाखंड और छद्म के प्रति लेखकीय समझ एवं विरोध के साधन हैं। नैरेट करने का ढंग प्रायः सभी कहानियों में वही है- यह टूटता है संग्रह की शीर्षक कहानी में, जहां किस्सागो का औत्सुक्य सर्वाधिक है। इसी कहानी के आरंभ में कही गई दो बातों का उल्लेख जरूरी लगता है। लिखा गया है- 'कभी-कभी दाल-भात चुरने की प्रतीक्षा में कहानी सुनाई जाती। जब कहानी खत्म होती है तो किस्सागो कहते हैं दाल-भात चुरगे, मोर कहानी पूरगे।' (पृ. 74) यह कथन रमाकांत श्रीवास्तव की कहानियों में पारंपरिकता के तत्वों का समर्थन भी करता है।

आगे यह भी लिखा है- 'गुजरे वक्त का गुणाढ्य हो या आज का कथाकार कुछ सुनाने के लिए ही तो कुछ कहता है।' (पृ. 74) कथाकार का यह विश्वास इन कहानियों में रचा-बसा है। ये कहानियां अपने कथ्यगत संदर्भों के साथ अधिक विस्तार के बिना 'सुनाती' बहुत कुछ हैं।

फिल्मों को देखने की कलात्मक परख

अजय कुमार शर्मा

समीक्षक

संपर्क :
सी-100, प्रथम तल
अशोका एन्क्लेव पार्ट-II
सेक्टर-37,
फरीदाबाद-121003
मो. 9868228620

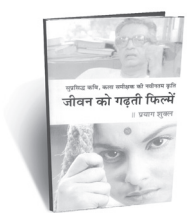

पुस्तक :
जीवन को गढ़ती फिल्में
लेखक :
प्रयाग शुक्ल
प्रकाशक :
अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 176
मूल्य : ₹ 350

प्रयाग शुक्ल एक कवि/कथाकार/कला समीक्षक और यात्रा-वृत्तांतकार के रूप में तो प्रतिष्ठित हैं ही, सिनेमा पर भी उन्होंने गंभीर लेखन किया है। वे मुख्यतः 'दिनमान' पत्रिका और 'नवभारत टाइम्स' (जहां वे कार्यरत थे) में लिखते थे। इसी दौरान लिखे गए तथा अन्य महत्वपूर्ण लेखन के कुछ हिस्सों को हाल ही में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'जीवन को गढ़ती फिल्में' में संजोया गया है। पुस्तक क्रमशः पांच खंडों 'लेख', 'वृत्तांत', 'सत्यजित राय', 'स्मरण' एवं 'फिल्म समीक्षाएं शीर्षक में विभक्त है। पुस्तक में सबसे पुराना आलेख 1987 का है जो शिमला में आयोजित फिल्मोत्सव की रिपोर्ट है जिसमें मणिकौल की नई फिल्म 'माटी मानस' दिखाए जाने का जिक्र है और सबसे ताजा लेख त्रूफो के सिनेमा पर है जो 2017 में लिखा गया है। पुस्तक में कुल 42 आलेख है और सबसे ज्यादा आलेख वर्ष 1996 के हैं।

हमारा देश, दुनिया में सबसे ज्यादा फिल्में बनाता है, लेकिन दुखद बात यह है कि उसको देखने-समझने का नजरिया आज भी हिकारत भरा है। पूरी दुनिया में सिनेमा को एक सार्थक कला रूप में जाना-समझा जा रहा है और उस पर गंभीर अध्ययन तथा विचार-विमर्श भी हो रहा है, परंतु भारत में, मुख्यतः हिंदी सिनेमा पर गंभीरता से लिखने वाले उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। हिंदी में सिनेमा पर लिखने का मतलब सामान्यतः फिल्मों की अतिशयोक्तिपूर्ण समीक्षाएं हैं या अभिनेता-अभिनेत्रियों की कथनी-करनी की फूहड़ता से भरी जानकारियां।

हिंदी में सिनेमा को गंभीरता से पाठकों तक पहुंचाने की प्रक्रिया सबसे पहले 'दिनमान' पत्रिका ने शुरू की। उसके लिए उस समय के युवा कवियों/लेखकों जैसे कुंवर नारायण, विनोद भारद्वाज, प्रयाग शुक्ल, उदय प्रकाश, सुरेश उनियाल एवं मंगलेश डबराल ने सिनेमा को अपनी गहरी और अलग दृष्टि से देखने-जानने की शुरुआत की।

प्रयाग शुक्ल एक कवि/कथाकार/कला समीक्षक और यात्रा-वृत्तांतकार के रूप में तो प्रतिष्ठित हैं ही, सिनेमा पर भी उन्होंने गंभीर लेखन किया है। वे मुख्यतः 'दिनमान' पत्रिका और 'नवभारत टाइम्स' (जहां वे कार्यरत थे) में लिखते थे। इसी दौरान लिखे गए तथा अन्य महत्वपूर्ण लेखन के कुछ हिस्सों को हाल ही में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'जीवन को गढ़ती फिल्में' में संजोया गया है। पुस्तक क्रमशः पांच खंडों 'लेख', 'वृत्तांत', 'सत्यजित राय', 'स्मरण' एवं 'फिल्म समीक्षाएं शीर्षक में विभक्त है। पुस्तक में सबसे पुराना आलेख 1987 का है जो शिमला में आयोजित फिल्मोत्सव की रिपोर्ट है जिसमें मणिकौल की नई फिल्म 'माटी मानस' दिखाए जाने का जिक्र है और सबसे ताजा लेख त्रूफो के सिनेमा पर है जो 2017 में लिखा गया है। पुस्तक में कुल 42 आलेख है और सबसे ज्यादा आलेख वर्ष 1996 के हैं।

पुस्तक का पहला आलेख जो कि पुस्तक का शीर्षक भी है (जीवन को गढ़ती फिल्में) में वे सिनेमा को सभी कलाओं (नाटक, चित्रकला, कविता, संगीत, नृत्य एवं कथा) का संगम मानते हुए उसे एक सृजनात्मक ताकत के रूप में देखते हैं। कई विदेशी फिल्मों का उदाहरण देते हुए वे इस आलेख में सिनेमा की क्षमता, सिनेमा द्वारा विभिन्न साहित्यिक शैलियों जैसे-संवाद, संलाप, आत्मालाप आदि का प्रयोग, समकालीनता, ऐतिहासिक काल-खंडों के पुर्नसृजन द्वारा फिल्म-भाषा में आध्यात्मिक, रचनात्मक, वैचारिक, दार्शनिक सवालों को प्रस्तुत करने की क्षमता पर अपने विचार रखते हैं।

अगले दो लेख जापान के महान फिल्मकार अकीरा कुरोसावा (1910-1998) पर हैं। एक लेख में उनकी कालजयी फिल्म 'राशोमन' की चर्चा है तो दूसरा आलेख उनकी मृत्यु पर लिखा गया है। इस लेख में वे अकीरा को 'जीवन और प्रकृति' पर विश्वास करने वाले फिल्मकार के रूप में याद करते हैं।

पुस्तक में सत्यजित राय पर कुल 12 आलेख है, जिनसे उनके पूरे व्यक्तित्व और उनकी महत्वपूर्ण फिल्मों के बारे में जाना जा सकता है। 'बचपन के दिन' एवं

'शांतिनिकेतन और सत्यजित' जैसे आलेखों में जहां सत्यजित राय के बचपन और युवा अवस्था में उनके विकास को समझ सकते हैं। तो 'पाथेर पांचाली' पर दो आलेखों से इस कालजयी फिल्म के साथ-साथ सत्यजित राय के फिल्मी जीवन की संघर्षमयी शुरुआत को भी जाना-समझा जा सकता है। अन्य लेखों में हम उनके बहुआयामी व्यक्तित्व (पटकथा लेखक, चित्रकार, संगीतकार, पोस्टर एवं आवरण डिजायनर, बाल लेखक एवं बाल पत्रिका संपादक) से परिचित होते हैं। 'सत्यजित राय के बाद का भारतीय सिनेमा' शीर्षक लेख में वे इस महत्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करते हैं कि सत्यजित राय की उपस्थिति से सभी भारतीय भाषाओं में फिल्मों को अलग नजरिए से देखने वाले फिल्मकारों की एक नई पीढ़ी पैदा हुई किंतु वे सब फिल्म बनाने की अपनी-अपनी नई शैली विकसित करते हैं।

'बासु दा और उदास हीरामन' तथा 'एक सांस जिंदगी' शीर्षक से दो आलेखों में वे बासु भट्टाचार्य की 'तीसरी कसम' और उन्हीं के द्वारा बनाई गई एक डॉक्यूमेंट्री शैली की फिल्म 'एक सांस जिंदगी' की चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं, ''यह वास्तव में समकालीन भारतीय यथार्थ का मर्मस्पर्शी अंकन है और पर्यावरण तथा प्रदूषण के सवालों से होती हुई यह फिल्म, समाज में व्याप्त हर तरह की गंदगी और नैतिक गिरावट को कुछ इस तरह सामने लाती है कि हम महसूस करते हैं कि फिल्म आज की घुटन भरी जिंदगी का ही एक आईना है।''

मणिकौल को अपने आलेख में वे नई राहों का अन्वेषी मानते हुए याद करते हैं। वे मणिकौल के सिनेमा में 'मौन' के महत्व और उसकी अहम भूमिका की पड़ताल करते हुए कहते हैं कि, ''मणि की इस भाषा और सिने दृष्टि की ओर ध्यान दिए बगैर, एक प्रवाद यह फैलाया गया कि उनकी फिल्में तो बड़ी शिथिल हैं, जबकि इन अंतरालों में जो घटित होता है

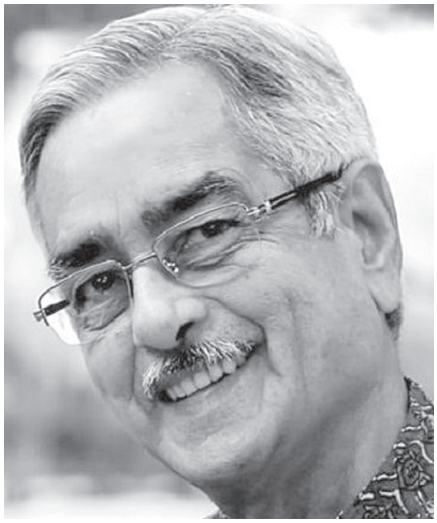

प्रयाग शुक्ल की इस पूरी पुस्तक की सरल और काव्यमयी भाषा तो पाठकों को प्रभावित करती ही है साथ ही फिल्मों को कला रूप में जानने के साथ-साथ एक विशेष कालखंड की फिल्मों की विषय-वस्तु और समकालीनता से परिचित कराती है। इसके पठन से फिल्मों को देखने की एक व्यापक और कलात्मक समझ भी विकसित होगी ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

वह गौर करने वाला है।''

पुस्तक के अंतिम खंड 'फिल्म समीक्षाएं' में उन्होंने मुख्यतः 1996 में आयोजित विभिन्न फिल्म महोत्सवों के दौरान देखी गई विभिन्न देशों के निर्देशकों की फिल्मों तथा इसी समय आयोजित विशेष निर्देशकों/कलाकारों आदि की फिल्मों के पुनरावलोकन समारोहों की चर्चा की है। प्रमुख फिल्में जिनकी चर्चा की गई है वे हैं, 'हैमर एंड सिकल' (निर्देशक सरगेई लिवनेव), 'दि लास्ट बटर फ्लाई' (निर्देशक कारेल कारवीना), 'द साईकिलिस्ट', 'निर्वाचन' (निर्देशक विप्लव राय चौधुरी), 'सिटिंग प्रिटी ऑन ए ब्रांच' (निर्देशक यूराई याकूबिस्को), 'क्रापात्यूक' (निर्देशक एंटीक गाब्रिएल लियशुत्स), 'कलकत्ता 71' (निर्देशक मृणाल सेन), 'वर्ण्ट बाई द सन' (निर्देशक निकिता मिखालकोव), 'टू डाई फार' (निर्देशक गस वॉन सैंट) एवं 'ऑफिस पार्टी' (निर्देशक यान हॉलडॉफ)।

पुनरावलोकन में देखी गई फिल्मों में मुख्य चर्चा है डेनमार्क के निर्देशक कार्ल थियोडोर ट्रायर की फिल्में, हॉलीवुड के सुप्रसिद्ध अभिनेता जीन केली की फिल्में और जापान के चर्चित फिल्मकार नागीशो ओशिमा की फिल्में।

'त्रूफो का सिनेमा' शीर्षक से लिखे विस्तृत लेख में उन्होंने फ्रासुआ त्रूफो (1932-1984) को फ्रेंच सिनेमा में न्यू बेव के जनक के रूप में याद करते हुए उनकी फिल्मों विशेषतः 'द 400 ब्लोज' की चर्चा की है जो उनकी पहली ही फिल्म थी और जिसे एक अनूठी फिल्म के रूप में विश्व भर में सराहा गया था।

इस आलेख से हम यह भी जान पाते हैं कि त्रूफो की कई फिल्में आत्मकथात्मक है और उनके लिखे और उन पर लिखे साहित्य का एक विपुल भंडार है।

पूरी पुस्तक की सरल और काव्यमयी भाषा तो पाठकों को प्रभावित करती ही है साथ ही फिल्मों को कला रूप में जानने के साथ-साथ एक विशेष कालखंड की फिल्मों की विषय-वस्तु और समकालीनता से परिचित कराती है। इसके पठन से फिल्मों को देखने की एक व्यापक और कलात्मक समझ भी विकसित होगी ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

पुस्तकें मिलीं

पुस्तक :
वाल्ट डिज्नीः ऐनीमेशन का बादशाह
लेखिका :
विजय शर्मा
प्रकाशक :
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष :
2017
पृष्ठ : 128
मूल्य : ₹ 400

पुस्तक :
जिसे वे बचा देखना चाहते हैं
कवि :
लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता
प्रकाशक :
अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष :
2015
पृष्ठ :
112
मूल्य : ₹ 235

पुस्तक :
ऐतिहासिक धरोहर यात्रा
लेखक :
अशोक कुमार सिन्हा
प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना
प्रकाशन वर्ष :
2016
पृष्ठ :
107
मूल्य : ₹ 100

पुस्तक :
दर्जन भर
लेखक :
डॉ. अमिताभ शंकर राय चौधुरी
प्रकाशक :
शिल्पायन, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष :
2017
पृष्ठ :
112
मूल्य : ₹ 225

कविता

यथार्थ की काया

राजीव सक्सेना

कवि-आलोचक

संपर्क :
मालती नगर, डिप्टी गंज,
मुरादाबाद-244001(उ.प्र.)
मो. 9412677565

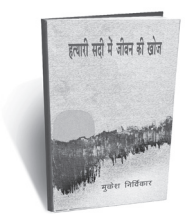

पुस्तक :
हत्यारी सदी में जीवन की खोज
कवि :
मुकेश निर्विकार
प्रकाशक:
समन्वय प्रकाशन, के.बी. 97, प्रथम तल, कविनगर, गाजियाबाद
पृष्ठ : 136
मूल्य : ₹ 295

कविता एक कलाकर्म ही नहीं है; बल्कि, जीवन और उसके यथार्थ की खोज है और एक समय यात्रा भी। यह कविता ही है जो किसी जेनुइन कवि/रचनाकार को उसके समय, समाज और उसके यथार्थ से जोड़ती है। एक सजग रचनाकार कविता के जरिए जीवन की नई परिभाषाएं तो रचता/गढ़ता ही है, अपने समय के यथार्थ को चीह्नने का प्रयत्न भी करता है और इस प्रक्रिया में वह काफी दूर तक जाता है। मुकेश निर्विकार अपने सद्य प्रकाशित कविता संग्रह-'हत्यारी सदी में जीवन की खोज' में एक ऐसे ही जेनुइन कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं जो लगातार क्लिष्ट और अराजक होते समय की समस्त विडंबनाओं और विद्रूपताओं को 'आइडेंटिफाई' करते हुए अपने समाज के प्रायः अनचीह्ने 'कृष्ण यथार्थ' को भी एक गहरी प्रश्नाकुलता के साथ उजागर करते हैं।

कविता एक कलाकर्म ही नहीं है; बल्कि, जीवन और उसके यथार्थ की खोज है और एक समय यात्रा भी। यह कविता ही है जो किसी जेनुइन कवि/रचनाकार को उसके समय, समाज और उसके यथार्थ से जोड़ती है। एक सजग रचनाकार कविता के जरिए जीवन की नई परिभाषाएं तो रचता/गढ़ता ही है, अपने समय के यथार्थ को चीह्नने का प्रयत्न भी करता है और इस प्रक्रिया में वह काफी दूर तक जाता है। मुकेश निर्विकार अपने सद्य प्रकाशित कविता संग्रह-'हत्यारी सदी में जीवन की खोज' में एक ऐसे ही जेनुइन कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं जो लगातार क्लिष्ट और अराजक होते समय की समस्त विडंबनाओं और विद्रूपताओं को 'आइडेंटिफाई' करते हुए अपने समाज के प्रायः अनचीह्ने 'कृष्ण यथार्थ' को भी एक गहरी प्रश्नाकुलता के साथ उजागर करते हैं और तमाम विसंगतियों के बावजूद जीवन के उजले पक्ष को भी खोज लेते हैं। निर्विकार कविता के नए कोलंबस हैं जो तमाम विरोधाभासों के बावजूद अपनी सर्जना विशेषकर कविता के जरिए न केवल साहित्यिक संभावनाओं का एक व्यापक आकाश रचते हैं बल्कि जीवन में सकारात्मक और सार्थकता को खोजने के लिए ग्रीक मिथकों के 'सिसिफस' जैसा यत्न भी निरंतर करते रहते हैं। दरअसल, मुकेश निर्विकार यक्ष-जिज्ञासाओं और सूक्ष्म युगबोध से प्रेरित किंतु गहरी आशावादिता के कवि हैं।

संपूर्ण विश्व साहित्य, चाहे यह गद्य हो या कविता, मानव जाति की समय यात्रा है। मुकेश निर्विकार की कविताएं भी इस तथ्य का अपवाद नहीं हैं। निर्विकार के लिए कविता जीवन की खोज या अनुभव यात्रा के साथ-साथ एक कालयात्रा भी है, जो निरंतर उनके भीतर चलती रहती है। जीवन से जुड़े प्रत्येक अनुभव के साथ यह कालयात्रा निरंतर समृद्ध और व्यापक होती है और इसे वे कविता के जरिए अपने पाठकों से 'शेयर' करते हुए उन्हें सतत अपने साथ लिये चलते हैं। दरअसल, मुकेश की कविताओं का जीवन और समय के साथ उनके पाठकों के साथ भी एक पारस्परिक और अन्योन्याश्रित संबंध है। जीवन और समय के बिना उनकी कविताओं को परिभाषित कर पाना लगभग असंभव है और यथार्थ उनका एक अविचल ध्रुव है। सही बात तो यह है कि 'हत्यारी सदी में जीवन की खोज' की अधिकांश कविताएं एक नितांत मानव विरोधी और रचना विरोधी हत्यारे समय में न केवल मनुष्य जीवन के नए रूपक की बल्कि स्वयं समय की भी पुनर्रचना हैं।

दुनिया के सभी महान कवि अपनी सृजनात्मकता में कहीं न कहीं समय यानी काल के एक गहरे अवबोध से आक्रांत रहे हैं। अब वे चाहे विश्वकवि पाब्लो नेरूदा हों, गार्सिया लोर्का हों, 'इन सीवियर हंग्री टाइम्स' जैसी कालजयी पंक्ति के रचयिता अंग्रेज कवि जैफ्री चासर हों, या हमारे अपने अज्ञेय सभी ने समय को लेकर ढेरों बिंब और अविस्मरणीय कविताएं रची हैं। समय साहित्य विशेषकर कविता की एक अनिवार्य या अपरिहार्य 'एनटिटी' ही नहीं, बल्कि एक प्राणतत्व है जिसके बिना श्रेष्ठ काव्य की रचना संभव नहीं है। दरअसल, यह समय, समाज और यथार्थ का अमलगम ही है जिसके जरिए बेहतर कविता की रचना संभव होती है। मुकेश निर्विकार कविता के इस रसायन को भली-भांति जानते हैं तभी वे इसका बेहतर ढंग से उपयोग करते हुए समय को लेकर कुछ अद्वितीय कविताएं रच पाए हैं।

दिवंगत कवि कुंवरनारायण अपनी एक कविता में कहते हैं- ''समय हमें कुछ भी साथ ले जाने की अनुमति नहीं देता। पर अपने बाद अमूल्य कुछ छोड़ जाने का भरपूर अवसर देता है।'' कुछ इसी तरह की बात मुकेश अपनी कविता 'जीवन यात्रा में वापसी नहीं होती' में दूसरे ढंग से करते हैं:

''समय अनंत है, किंतु अंत में
यही पड़ेगा कम
रीत जाएंगी अवसरों की तमाम हांडियां
भरा करेंगे उन्हें हम नाहक टप...टप...टप...टप...
प्रायश्चित के आंसुओं से... (पृ. 11)
000
समझ नहीं आता कुछ भी-
जीएं अपनी गति से या दौड़े सरपट
समय के साथ-साथ... (पृ. 11)

दरअसल, समय को लेकर निर्विकार की कविताओं में सदैव एक ऊहापोह या द्वंद्व दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं वे इसकी क्रूरता और निर्ममता पर टिप्पणी करते हैं, जैसे 'रोटी की परिधि पर निरंतर घूमना मुझे' कविता की शुरुआत वे इस तरह करते

हैं-''बेहद क्रूर है अपना 'समय'/निरा अपराधी/छीन ली है इसने/मुझसे/मेरी तमाम 'काल राशि''। (पृ. 37) फिर अपने वक्तव्य को इस तरह विस्तार देते हैं-''निरापद नहीं हूं मैं/अब तो खुद अपनी ही देह में/घातक समय ही/बह रहा है/मेरे लहू में।'' (पृ. 37) 'जीने की प्रत्याशा' कविता में मुकेश लिखते हैं-''काट लिया जाता है किश्तों में/मेरे वर्तमान का एक बड़ा हिस्सा/भविष्य के किसी सब्जबाग की खातिर...।'' (पृ. 59) समय को लेकर कवि ने इतने बिंब रचे हैं कि उनके बिना कविता का कोई निश्चित तस्वीर, रूपाकार या रूपबंध निर्धारित करना प्रायः असंभव है। किंतु इतना तय है कि वे अपनी कविताओं के जरिए अपने समय की 'डार्क रियलिटी' (कृष्ण यथार्थ) और उसके वक्र को पूरी संवेदनशीलता के साथ रेखांकित करते हैं और समय के सभी संवेदनों और स्पंदनों पर अपनी बारीक नजर रखते हुए उसकी गहरी पड़ताल भी करते हैं। 'हत्यारी सदी...' की कविताओं में समय के इतने संदर्भ उपस्थित हैं कि इन्होंने एक काल-चिंतन या विमर्श जैसा स्वरूप ही ग्रहण कर लिया है। खास बात यह है कि अपनी कविताओं में निरंतर समय के वक्र को रूपायित करने और पाठकों को इसके विषय में सचेत करने के बावजूद 'हत्यारी सदी' का कवि काल सापेक्ष ही रहता है तभी कहा है-''आ तो गया हूं मैं यहां/दौड़ते-दौड़ते बेतहाशा/वक्त के साथ-साथ...।'' (पृ. 12)

मूल रूप में मुकेश निर्विकार सामाजिक सरोकारों के कवि हैं तभी उनकी लगभग सभी कविताओं में बदलते समय के साथ छीज रहे सामाजिक-मानवीय संबंधों के प्रति एक गहरी चिंता दिखाई पड़ती है। 'हत्यारी सदी' की सभी कविताएं क्षरणशील समाज के ऊपर एक सार्थक वक्तव्य होने के साथ ही सामाजिक विसंगतियों और भदेसपन पर गंभीर किंतु प्रतिकूल टिप्पणियां भी हैं, जो सीधे पाठकों के मर्म पर तो प्रहार करती ही हैं उन्हें आत्मावलोकन के अलावा सामाजिक संबंधों के एक पुनर्पाठ के लिए भी अंदर से बाध्य करती हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है-''मैं भी तो आखिर/वही हूं न-धृतराष्ट्र/निपट अंधा/अपने पुत्र मोह में! कहने को तो आज भी/मेरे बुद्धि और विवेक में/विदुर और संजय बसते हैं/मगर मैं रोज उनकी/अनसुनी करता हूं...!'' (पृ. 50) दरअसल, मुकेश हमारे समय की विसंगतियों के बहाने समाज के द्वंद्व-चरित्र और उसकी कृत्रिमता पर तो कसकर प्रहार करते ही स्वयं को भी प्रश्नों के कटघरे में खड़ा करने से नहीं चूकते। यांत्रिक और जड़ समाज में वे सतत अपने अस्तित्व को रेखांकित करते हुए एक गहरी प्रश्नाकुलता के साथ उपस्थित होकर वे स्वयं से पूछते हैं-''कभी निराशा तो कभी आशा/कभी ख्वाब तो कभी हकीकत/और कभी-कभी तो कुछ भी नहीं/इन सबके बीच आखिर मैं कौन हूं?'' (पृ. 133) या फिर-''एक रोटी की

संपूर्ण विश्व साहित्य, चाहे यह गद्य हो या कविता, मानव जाति की समय यात्रा है। मुकेश निर्विकार की कविताएं भी इस तथ्य का अपवाद नहीं हैं। निर्विकार के लिए कविता जीवन की खोज या अनुभव यात्रा के साथ-साथ एक कालयात्रा भी है, जो निरंतर उनके भीतर चलती रहती है। जीवन से जुड़े प्रत्येक अनुभव के साथ यह कालयात्रा निरंतर समृद्ध और व्यापक होती है और इसे वे कविता के जरिए अपने पाठकों से 'शेयर' करते हुए उन्हें सतत अपने साथ लिए चलते हैं।

चोरी के एवज में/कल उस मासूम से बच्चे को भीड़ ने पीटा बहुत/मगर, क्यों मूंछे ताने जा रहे हैं आज/सरे बाजार से ये डकैत?... नीचता के इस मकाम से युग/आखिर किन सोपानों से उतरा है?.../क्यों समय की पतंग बहने लगी है अब/वाहियात हवाओं के इशारों पर?'' (पृ. 120-121) और ''कहां क्या बदला है/युगों की इस/अविराम यात्रा में?'' (पृ. 50) दरअसल, निर्विकार निरे कवि नहीं हैं बल्कि एक कुशल सभ्यता समीक्षक भी हैं, जो परत-दर-परत समाज की एक बारीक पड़ताल तो करते ही हैं गाहे-बगाहे उस पर अपनी तर्जनी उठाने से भी नहीं चूकते-''वैसे तो नाप ली है गोलाई हमने/सूरज और चंद्रमा की भी/मगर, कब नाप सके हैं हम/रोटी की परिधि कभी?'' (पृ. 20) ''नदी के आक्रोश में/डूब जाती हैं सदियों पुरानी सभ्यताएं/बचते नहीं हैं/उनके अवशेष तक।'' (पृ. 65) 'हत्यारी सदी' की कविताओं में निर्विकार केवल अपने समय और समाज की द्वंद्वात्मकता के बरक्स मनुष्य जीवन के संघर्ष और उसकी नियति की नई परिभाषाएं रचते हुए उसकी इयत्ता के नए रूपक भी गढ़ते हैं-''हां तुम्हीं हो/मेरी जीवन-गाथा के/असल योद्धा! भले ही तुम चलाते हो रिक्शा/लगाते हो ठेला/करते हो मेहनत मजूरी/कसला चलाकर/लेकिन तुम/जिंदगी से/दो-दो हाथ करते हो...जब भेजता है वह/तुम्हारी मौत/तुम केवल/तभी मरते हो/लेकिन तब तक/तुम सिर्फ लड़ते हो...सिर्फ लड़ते हो...सिर्फ लड़ते हो।'' (पृ. 94-95) महान अंग्रेज कवि राबर्ट ब्राउनिंग ने अपनी एक कविता में कहा था-''आइ वाज/एवर ए फाइटर/सो वन फाईट मोर...'' यहां निर्विकार की कविताएं ब्राउनिंग की पंक्तियों से साम्य तो रखती ही हैं, वे जाने-अनजाने व्यक्ति के योद्धाभाव को प्रतिष्ठित कर उसे संघर्ष की प्रेरणा भी देती हैं। प्रस्तुत संकलन की कविताएं समाज के सूक्ष्म अवलोकन और नितांत वैयक्तिक जीवन अनुभवों पर आधारित एक बड़ा आत्मकथ्य है। समाज 'हत्यारी सदी' की कविताओं का और उसके समानांतर कवि के रचना संसार यानी उनके काव्य जगत की अनिवार्य संहति है और उससे पलायन करना स्वयं कवि के लिए भी संभव नहीं है। शायद यूं ही कथ्य के प्रायः हर मोड़ पर समाज अनायास ही अपनी बैतालिक उपस्थिति को दर्ज कराता है। कवि ने इस संकलन में समकालीन समाज का भले ही किसी बड़े कैनवस पर चित्रण नहीं किया है, किंतु यह इतना भव्य और सम्मोहक अवश्य है कि शब्दों के किसी जादुई कैलाइडोस्कोप या मायादर्पण सरीखे दृश्य बिंब सृजित करता है। यहां यह भी गौरतलब है कि कवि ने संकलन की कविताओं में समाज का यथार्थ चित्रण किया है और इसमें वे अतिरेकी परिस्थितियों से प्रायः बचते रहे हैं, इसका बड़ा कारण यह भी है कि एक दृष्टा कवि या स्वप्नजीवी साहित्यकार और ''स्वप्न और उम्मीदों के सहारे/वजूद कायम हैं हमारे'' जैसी पंक्तियों के रचयिता होने के बावजूद कवि किसी स्वप्न समाज या यूटोपिया में विश्वास नहीं रखते हैं। 'हत्यारी सदी' की कविताओं में समाज ठीक उसी रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है जैसा कवि ने उसका अवलोकन किया है यानी एक स्खलित समाज।

एक पुरानी चीनी कहावत है-'हजार मील की यात्रा एक छोटे से कदम से शुरू होती है।' यह चीनी कहावत साहित्यिक संदर्भों में भी लागू होती है। अगर, साहित्य एवं रचना यात्रा है, तो चीनी कहावत के अनुरूप इसकी शुरुआत निश्चित रूप से एक छोटे रचनात्मक कदम से ही होनी चाहिए। विश्व के लगभग सभी महान कवियों, लेखकों या साहित्यकारों ने अपनी रचना यात्रा की शुरुआत बहुत छोटी-छोटी बातों या प्रायः नजरों से ओझल रहने वाले तथ्यों या साहित्यिक यथार्थ को लेकर की है। उदाहरण के तौर पर विश्व-कवि पाब्लो नेरूदा 'रेजीडेंसिया एल टिएरा', 'केंटो जनरल' अथवा 'एल्ट्यूरास डि माचू पिच्चू' जैसी महान कृतियों की शुरुआत पराल या टेम्को जैसे अलसाए और उनींदे कस्बों से करते

हैं जहां उनका बचपन या किशोर जीवन बीता था फिर वे इसे व्यापकता प्रदान कर अपने देश जिले की भौगोलिक सीमाओं से मुक्त कर पूरे लेटिन अमेरिका, यूरोप या भूमंडल की ही नहीं बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड अथवा सृष्टि की चिंताओं के एक विलक्षण दर्शन में बदल देते हैं। अंततः नेरूदा की कविताएं 'ओडास एलीमेंटल्स' में नए आयामों को ग्रहण स्पेस-टाइम के बंधनों के परे अग्नि, जल, वायु जैसे पंच महाभूतों तात्विक-दर्शन में परिणत हो जाती है। हमारे दौर के शायद सबसे ज्यादा प्रतिभाशाली और मेटाफिजीकल कवि कुंवरनारायण भी नेरूदा की तर्ज पर अपनी एक कविता में लिखते हैं- ''अंग-अंग/ उसे लौटाया जा रहा था/अग्नि को/जल को/पृथ्वी को/पवन को/शून्य को/केवल एक पुस्तक बच गई थी/उन खेलों की जिन्हें वह बचपन से/अब तक खेलता आया था...।'' इन दोनों महान कवियों की तर्ज पर मुकेश निर्विकार भी 'हत्यारी सदी' की कई कविताओं की शुरुआत गांव, सीवान, शहर और घर-परिवार की इन दैनंदिन चिंताओं से कुछ इस तरह करते हैं-''रहता हूं मैं शहर में/जैसे तैसे, अपना अस्तित्व बनाए...रहते हैं मेरे परिजन/दूर एक गांव में/....मां के खये में रहता होगा तीखा दर्द/सदा की तरह/बापू होंगे परेशान अपनी उखड़ी सांस से।'' (पृ. 89) फिर इन्हें व्यापकता प्रदान कर आगामी कविता में कुछ इस तरह परिणत कर देते हैं-''ब्रह्मांड में, कहते हैं/सब कुछ अनंत है/आकाश अनंत है/ समय भी अनंत है/दिशाएं भी अनंत हैं...'' (पृ. 54) या ''ये आकाश! ये अग्नि! ये जल!/ ये वायु/ ये धरती!/पंगु से पंचतत्व हो तुम मेरे इस विग्रह के/तुमसे नहीं, बल्कि, बनी है यह देह/विकट वर्जनाओं, विडंबनाओं, मजबूरियों/त्रासदियों व संत्रासों से....'' (पृ. 15) किंतु कवि निर्विकार की सर्वाधिक सशक्त मुख्य अभिव्यक्ति बच्चे को लेकर लिखी गई इन पंक्तियों में हुई है- ''इस घूमती धरा पर/जबकि सब लोग अपना लेते हैं/धरती की गति/अपनी ही गति से डोलता है बच्चा/एकदम मस्त, बिलकुल बेफिक्र!/ उसके पैरों के नीचे/सच मानो/लट्टू-सी घूमती है/यह धरा!'' (पृ. 84) और ''लौटकर घर/देर-रात में/ सोते अपने बच्चे को/पुचकार कर रह जाता होगा/ कोई बेबस/लाचार बाप!'' (पृ. 31) दरअसल, मुकेश निर्विकार ने अपनी कुछ कविताओं में एक नए सौंदर्यबोध की सृष्टि की है जो उन्हें बड़े कवियों का धरातल प्रदान करता है। विषयों की विविधता, दृष्टि की व्यापकता और भावों की गहनता निर्विकार को एक बड़ी 'रेंज' का कवि बनाती हैं। सारी धरती और सारी सृष्टि ही नहीं, बल्कि, उदात्त मानवीयता से संबंधित सारे विचार भी कवि की काव्य परिधि में आते हैं और उनकी कविताओं की अंतर्वस्तु बनते हैं। कविता के नए प्रतिमान गढ़ते हुए प्रख्यात आलोचक डॉ. नामवर सिंह व्यापकता और गहनता को कवियों का निकश प्रतिपादित करते हैं। 'हत्यारी

मुकेश की कविताओं का जीवन और समय के साथ उनके पाठकों के साथ भी एक पारस्परिक और अन्योन्याश्रित संबंध है। जीवन और समय के बिना उनकी कविताओं को परिभाषित कर पाना लगभग असंभव है और यथार्थ उनका एक अविचल ध्रुव है।

सदी' की अधिकांश कविताएं न केवल अपनी 'रेंज' में बल्कि, रचाव में भी काफी व्यापक और गहन हैं। अतः कविता और उसकी आलोचना के किसी भी निकश पर कवि मुकेश निर्विकार खरे साबित होते हैं।

विश्व की सभी भाषाओं में रचा गया साहित्य असल में 'यथार्थ की खोज' (क्वेस्ट फॉर रियलिटी) है। जिस तरह से प्राचीन भारत के तत्वदर्शी ऋषियों सहित विश्व के प्रसिद्ध विचारकों, दार्शनिकों, जैन संतों ने सत्य यानी यथार्थ और इसके संस्करणों को लेकर अद्भुत चिंतन अथवा विमर्श प्रकट किया है। ठीक उसी के समानांतर साहित्यकारों ने भी यथार्थ को विभिन्न कोणों से रेखांकित करते हुए उसकी परिभाषाएं रचने-गढ़ने का प्रयत्न किया है। कवि मुकेश निर्विकार भी इस तथ्य के अपवाद नहीं हैं। उनका समस्त रचना संसार यथार्थ की काया पर ही निर्मित हुआ है। यथार्थ मुकेश निर्विकार की कविताओं का अविचल अक्ष है, जिसके इर्द-गिर्द उनका समूचा रचना-संसार परिक्रमा करता है और इसके बिना उनके काव्य-जगत की कल्पना नहीं की जा सकती। एक सजग सर्जक/रचनाकार होने के नाते निर्विकार भी अपने संपूर्ण सृजन में एक यथार्थन्वेषी के रूप में ही बहुधा हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। शायद यूं ही उनकी अधिकांश कविताओं की शुरुआत एक द्वंद्व, दुविधा या संशयग्रस्त स्थिति से होती है जो उनमें यथार्थ को चीन्हने के लिए एक यक्ष जिज्ञासा को प्रेरित करती है। सही बात तो यह है कि 'हत्यारी सदी' के कवि वास्तविक अर्थों में समकालीन कविता के आधुनिक नचिकेता हैं, जो यथार्थ को लेकर न केवल स्वयं से बल्कि अपने समय और समाज से भी निरंतर प्रश्नरत रहते हैं। तभी पूछते हैं- ''आखिर सत्य इतना अपारदर्शी क्यों है?/क्यों छायी है ईमान पर अंधेरी धुंध?'' (पृ. 120) और ''कहां क्या बदला है/युगों की इस/अविराम यात्रा में?'' (पृ 50) या ''कैसे? आखिर कैसे?/धकियाऊं मैं/ समय के जड़त्व की/पाषाण शिलाएं...'' (पृ. 46) यह प्रश्नाकुलता अंततः कवि को एक सत्य या यथार्थ की ओर ले जाती है-''कि श्रेष्ठतर है केवल मनुष्य के पास/मैं आत्ममुग्ध हुआ ही था कि तभी/कबूतर ने मेरे सिर पर/गर्म बीट मार दी...।'' (पृ. 103) ब्रिटिश नाटककार और नोबेल विजेता हैरल्ड पिंटर ने अपने उद्बोधन में कहा था-''हम जीवन भर यथार्थ की खोज में रहते हैं, यह कभी हमारे हाथ नहीं आता, अगर आता भी है तो बस, टुकड़ों में, किंतु यह कभी संपूर्ण यथार्थ नहीं होता।'' निर्विकार के रचनाकर्म पर भी पिंटर का यह कथन अक्षरशः लागू होता है। संशयग्रस्तता या प्रश्नाकुलता से प्रेरित होने के कारण अक्सर यथार्थ के कुछ सूत्र उनके हाथ आते हैं, विशेषकर सामाजिक यथार्थ के, किंतु यह अंतिम यथार्थ (अल्टीमेट रियलिटी) कभी नहीं होता। एक बात जरूर है कि उनके काव्य-जगत का यथार्थ एकांगी नहीं होता। यह बहुधा एक किस्म का त्रि-विम यथार्थ है जो उनके दृश्य जगत यानी प्रत्यक्ष दुनिया के समानांतर उनके मनोजगत की छाया है। कवि मुकेश के संपूर्ण रचनाकर्म में अगर उनके सामने की दुनिया और उसके भोगे हुए यथार्थ के ढेरों बिंब उपस्थित होते हैं, तो उनकी कल्पनालोक यानी एक आभासी दुनिया के ढेरों फलक भी असमान होते हैं। मुकेश निर्विकार का यथार्थ बहुरंगी यथार्थ है और उसको सतरंगे वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) की मोहक छवियां प्रस्तुत संकलन में ही नहीं बल्कि उनके संपूर्ण रचना जगत में यत्र-तत्र परिलक्षित होती है। कवि के इस बहुरंगी यथार्थ की अभिव्यक्ति सामाजिक सरोकारों वाली कविताओं में विशेष रूप से हुई है और इसकी व्याप्ति कवि के संपूर्ण रचना क्षितिज तक हुई है। संभवतया यूं ही मुकेश निर्विकार की कविताओं में यथार्थ के अलग-अलग रंगों के साथ अलग-अलग शेड और अर्थ छवियां भी प्रकट होती हैं। दरअसल, मुकेश निर्विकार का समस्त रचनाकर्म यथार्थ की काया का ही नहीं बल्कि काफी हद तक उनके स्वप्नजगत अथवा मनोजगत का ही विस्तार है। उन्होंने अपनी कविताओं में यथार्थ का एक नया मेटाबोलिज्म रचा है। किंतु यह क्लिष्ट बिलकुल नहीं है और कविताओं की अद्भुत संप्रेषणीयता के कारण एक सामान्य पाठक भी इसे सरलतापूर्वक चीन्ह लेता है। अपने यथार्थबोध के कारण कवि और उनकी कविताएं सहज ही पाठक से एक तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं और शुरू से ही पाठक का उनसे जुड़ाव हो जाता है। 'हत्यारी सदी' की कविताओं के एक पाठ के उपरांत ही उनका अनुनाद लंबे समय तक अंतर्मन में सुनाई पड़ता है और एक सरल काव्य भाषा होने के कारण कविताओं की अंतर्ध्वनि को ग्रहण करने में शायद ही किसी पाठक को कठिनाई होगी। विश्व कवि पाब्लो नेरूदा ने कहा है कि कोई कवि कविता को नहीं रचता है बल्कि स्वयं कविता ही उसे रचती है। नेरूदा का यह कथन काफी हद तक मुकेश निर्विकार पर भी लागू होता है। बेशक, उन्होंने 'हत्यारी सदी' में किसी जादुई भाषा या उसके जरिए विलक्षण कथ्य का रचनालोक नहीं रचा है, किंतु सरल कथ्य के जरिए कविता की संभावनाओं का एक नया आकाश और कुछ हद तक स्वयं को भी रचा-गढ़ा है।

नव माध्यम को समझने की दृष्टि

प्रदीप सौरभ

पत्रकार

संपर्क :
334, सेक्टर 4-सी,
वातालीक, वसुंधरा
गाजियाबाद, पिन-201012
(उ.प्र.)
मो. 9810844998

पुस्तक :
न्यू मीडिया और बदलता भारत
लेखक :
प्रांजल धर और कृष्णकान्त
प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2018
पृष्ठ : 200
मूल्य : ₹ 350

लेखकद्वय प्रांजल धर और कृष्णकांत ने अपनी इस पुस्तक में पाठकों के साथ बहुत रोचक, सारगर्भित और प्रासंगिक तरीके से संवाद किया है। बदलते विश्व के साथ न सिर्फ पत्रकारिता की भाषा और परिभाषा बदली है बल्कि इसके आयाम भी बहुत विस्तृत हुए हैं। नित नवीन तकनीकों के आगमन ने मीडिया को एक खास किस्म की ताकत प्रदान की है, हालांकि यह भी उतना ही सच है कि संपादक जैसी संस्थाओं का पत्रकारिता-जगत में लोप-सा होता चला गया है।

भारत ने सूचना और संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नई बुलंदियों को छुआ है और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर हमारी बात अब बहुत गौर से सुनी जाती है। इंटरनेट संजाल के विस्तार और आधारभूत संरचना के निरंतर विकास के चलते विश्व के विशालतम लोकतंत्र भारत में कुछ बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों को समझने के लिए एक नए तरीके की मीडिया साक्षरता की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। 'न्यू मीडिया और बदलता भारत' एक ऐसी ही पुस्तक है जो न्यू मीडिया को समझने के लिए नए दृष्टिकोण उपलब्ध कराती है। लेखकद्वय प्रांजल धर और कृष्णकांत ने अपनी इस पुस्तक में पाठकों के साथ बहुत रोचक, सारगर्भित और प्रासंगिक तरीके से संवाद किया है। बदलते विश्व के साथ न सिर्फ पत्रकारिता की भाषा और परिभाषा बदली है बल्कि इसके आयाम भी बहुत विस्तृत हुए हैं। नित नवीन तकनीकों के आगमन ने मीडिया को एक खास किस्म की ताकत प्रदान की है, हालांकि यह भी उतना ही सच है कि संपादक जैसी संस्थाओं का पत्रकारिता-जगत में लोप-सा होता चला गया है। कहा जाता है कि इंटरनेट ने लोगों की जीवनशैलियों में परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, न्यू मीडिया ने एक वर्चुअल दुनिया को जन्म दिया है, एक ऐसी दुनिया को, जहां कोई भी अपने विचार बहुत आसानी से रख सकता है और उन विचारों को न्यू मीडिया या वेबसाइट्स के जरिए बहुत सारे लोगों तक पहुंचा सकता है। शायद न्यू मीडिया की द्रुतता और इसके सुविधाजनक होने के कारण ही इसके प्रयोक्ताओं की संख्या बढ़ती जा रही है।

पुस्तक इस महत्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करती है कि भले ही आज सूचनाओं की बमबारी हो रही है, किंतु सूचनाओं की इस भरमार में ज्ञान नदारद है। ये सूचनाएं, मीडिया की तकनीकी भाषा में कहा जाए तो, किसी शोर से कम नहीं हैं। शोर वह है जो संचारक से प्रापक के बीच में बाधा बनकर खड़ा होता है, चाहे वह बिजली का गुल हो जाना हो या फिर इंटरनेट का गायब हो जाना। इन सारी सूचनाओं की बमबारी में जनसरोकार कहां हैं! यह पुस्तक सर्वजनहिताय हेतु इन्हीं बुनियादी प्रश्नों से मुठभेड़ करती है और मीडिया ही नहीं, बल्कि न्यू मीडिया यानी फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम, ऑर्कुट आदि जनमाध्यमों की ताकत को बताती है कि किस तरह इन्हें जनता के लिए सकारात्मक तरीके से प्रयुक्त किया जा सकता है। यह किताब रोचक बात बताती है कि ऑर्कुट की प्रसिद्धि सबसे अधिक ब्राजील में है। अमेरिका में अपने प्रतिद्वंद्वियों 'माई स्पेस' या 'फेसबुक' की तुलना में ऑर्कुट कैसे कम लोकप्रिय हो गया, यह सारी कहानी रोचक तरीके से यह पुस्तक पाठकों के सामने रखती है। यहां कोरी सूचनाओं की भरमार नहीं है, बल्कि पेशगी ऐसी है कि पाठक आनंद लेते हुए न्यू मीडिया के बारे में एक-एक करके बुनियादी चीजों को क्रम से जानता-समझता चलता है। पुस्तक में अध्यायों का क्रम भी सोच-समझकर रखा गया है, ताकि पढ़ने वाले व्यक्ति को अधिकतम सुविधा मुहैया हो सके। पश्चिम और पूर्व की तुलना, खासकर मीडिया के संदर्भ में, इस पुस्तक में सराहनीय है। आज अगर पश्चिमी जीवन मूल्य न्यू मीडिया में हावी हैं तो क्यों हावी हैं, क्या वे सचमुच हावी भी हैं, ऐसे अनेक सवालों के आमफहम भाषा में जवाब देती यह पुस्तक हमें आश्वस्त करती है। पत्रकारिता के क्षेत्र में जो युवा लोग आने की लालसा रखते हैं, उनके सामने पत्रकारिता का व्यावहारिक यानी लगभग प्रैक्टिकल चरित्र रखने वाली यह पुस्तक ढंग से पढ़े जाने की मांग करती है।

न्यू मीडिया यानी नए जनमाध्यमों पर चर्चा किस बात से शुरू की जानी चाहिए? इसकी शुरुआत इस बात से नहीं की जा सकती कि मीडिया जीवन के नए क्षेत्र के रूप में उभरा है। वास्तव में मीडिया के क्षेत्र के उभार से संबद्ध नएपन की तमाम बातें अब बासी हो रही हैं। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि मीडिया व्यापार के ढांचे में नयापन ला रहा है या रोजगार के अनेक नए-नए अवसर उत्पन्न कर रहा है। ये बातें उस मीडिया के बारे में जरूर कही जा सकती हैं जिसे हम, 'न्यू मीडिया' की चर्चा करते समय, अनिवार्य रूप से 'ओल्ड' मान लेते हैं। अगर 'न्यू मीडिया' में 'ओल्ड मीडिया' से अलग, कुछ नवीन लक्षणों का वास न होता, तो 'न्यू मीडिया' पदबंध प्रचलित ही क्यों होता? वास्तव में न्यू मीडिया तीन खास स्तरों पर नया है। ये तीन स्तर मीडिया टेक्नोलॉजी के

तीन पहलुओं को व्यक्त करते हैं। पहला है, आटीफैक्ट्स का स्तर यानी डिवाइसेज; दूसरा है संचार संबंधी गतिविधियों का स्तर यानी संचारात्मक व्यवहार और तीसरा है सामाजिक व्यवस्था या संगठन का स्तर। आज जब न्यू मीडिया की डिजाइन तथा उसके विकास और प्रयोग को लेकर भांति-भांति के फ्रेमवर्क प्रस्तावित किए जा रहे हों, तब न्यू मीडिया के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण और भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है।

वास्तव में इस पुस्तक में सिर्फ सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को ही शामिल नहीं किया गया है, बल्कि नए जनमाध्यमों के नए योद्धाओं समेत अनेक व्यावहारिक संदर्भों पर भी यथास्थान चर्चा की गई है। सेकेंड डेमोक्रेटिक अपसर्ज यानी द्वितीय जन उफान से उपजी विसंगतियों समेत नए जनांदोलनों को न्यू मीडिया के विशेष संदर्भ में देखने की जरूरत बढ़ी है। अगर नव-सामाजिक आंदोलन अपनी प्रकृति और संरचना में पुराने सामाजिक आंदोलनों से भिन्न हैं, तो न्यू मीडिया भी 'ओल्ड मीडिया' की तुलना में अब आंदोलनों को निहायत भिन्न तरीके से तथा बिल्कुल अनोखे किस्म का कवरेज प्रदान करने लगा है। न्यू मीडिया के आर्थिक, शैक्षिक और सामाजिक पहलुओं के साथ-साथ इस पुस्तक में हैक्टिविज्म जैसे अनेक बिलकुल नवीन आयामों को भी शामिल किया गया है ताकि पाठकों को इस संबंध में अद्यतन जानकारियां प्राप्त हो सकें। न्यू मीडिया के संसाधन और आयाम प्रमुख रूप से पश्चिमी समाजों में उपजे, इसीलिए इन जनमाध्यमों में पश्चिम की केंद्रिकता मौजूद रही है। फिर भी, इस पुस्तक की कोशिश न्यू मीडिया के भारतीय संदर्भों के भीतर झांकने की रही है ताकि बदलते भारत के साथ न्यू मीडिया की संगति और संभावनाओं की पड़ताल की जा सके।

बदलता भारत बहुत सारी सुविधाओं और उपलब्धियों से लैस है लेकिन फिलिप एडम्स जैसे प्रामाणिक सिद्धांतकार और मीडिया विशेषज्ञ भी हैं जिन्होंने भारत पर और भारत के मीडिया पर सराहनीय कामकाज किया है। जब एशियाई खेल भारत में हुए थे, तब फिलिप एडम्स ने टिप्पणी की थी कि भारत बिना साक्षर हुए साक्षरता को कूद जाएगा यानी छलांग लगाकर उत्तर-साक्षर समाज बन जाएगा। तब भले ही लोगों ने एडम्स की इस बात को गंभीरता से न लिया हो, लेकिन आज इसे गंभीरता से क्यों लेना पड़ता है, इसकी कथा इस पुस्तक में व्याप्त है। इटली में जन्मे और अर्जेंटाइना में पले-बढ़े अंतोनियो

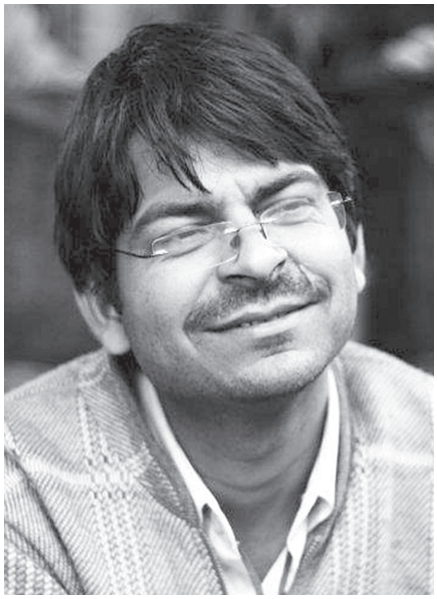

अपनी इस पुस्तक में लेखकद्वय प्रांजल धर और कृष्णकांत ने सोशल मीडिया समेत न्यू मीडिया को जानने-समझने का एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। यह दृष्टिकोण ऐसे समय में बहुत महत्वपूर्ण है, जब फेसबुक, ट्वीटर और व्हाट्सऐप जैसे द्रुत माध्यमों के कारण, ऐसा लगता है कि, दुनिया हमारी नजदीकी पहुंच में आ गई है।

पोर्किया की एक बड़ी चर्चित सूक्ति है कि आंसुओं से भी ज्यादा दारुण दृश्य किसी को आंसू बहाते हुए देखना है। आज का न्यू मीडिया बदलते भारत के लिए क्या इससे इतर कुछ कर पा रहा है! मिस्र और यमन की क्रांतियां इस बात की गवाह हैं कि मीडिया किस तरह हाशिए के लोगों का सचमुच भला कर सकता है! पुस्तक का आग्रह है कि बिसराए जा रहे जनसरोकारों पर गंभीर रूप से ध्यान दिया जाना अपेक्षित है।

पत्रकारिता की नई संरचनाओं से संबंधित यह पुस्तक मीडिया के क्षेत्र में हुए हालिया वैश्विक विकास की गहन पड़ताल करती है। वैश्विक विकास यानी कार्बन उत्सर्जन के लिए विकासशील देशों की आर्थिक-राजनीतिक मांगें, विश्व व्यापार संगठन में पलड़े का विकसित देशों की तरफ न झुकने देना, पर्यावरण और विस्थापन की चिंताएं, दुनिया के विभिन्न आदिवासी समूहों के दर्द, चाहे वे भारत के हों या ऑस्ट्रेलिया के। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का समाचार माध्यमों पर क्या असर पड़ा है, समाचारों की अंतर्वस्तु की महत्ता क्यों घटी है, जनसरोकार क्यों हाशिए पर जा रहे हैं, पब्लिक स्फीयर में क्यों और कितना संकुचन हुआ है, ऑनलाइन रहने के क्या निहितार्थ होते हैं, स्वामित्व में संकेंद्रण का मीडिया के संदेशों पर क्या प्रभाव पड़ता है, ऐसे अनेक प्रश्नों से मुठभेड़ करती यह पुस्तक न्यू मीडिया की भीतरी तहों तक जाती है और व्यापक सरोकारों पर जोर दिए जाने का आग्रह करती है। अपनी इस पुस्तक में प्रांजल धर और कृष्णकांत ने सोशल मीडिया समेत न्यू मीडिया को जानने-समझने का एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। यह दृष्टिकोण ऐसे समय में बहुत महत्वपूर्ण है, जब फेसबुक, ट्वीटर और व्हाट्सऐप जैसे द्रुत माध्यमों के कारण, ऐसा लगता है कि, दुनिया हमारी नजदीकी पहुंच में आ गई है। पर यह इतनी ही नजदीकी पहुंच में आई है कि महानगरों में अपने माता-पिता या दादा-दादी की दवाइयों की चिंता छोड़कर हम किसी आभासी मित्र की अनावश्यक चिंता करते हैं, जो सात समुंदर पार कहीं बैठा है मगर लगभग तय ही है कि जिससे हमारी मुलाकात जीवन में कभी नहीं होनी है परंतु सरोकारमूलक पत्रकारिता का आग्रह करती इस पुस्तक में बुनियादी जीवन-मूल्यों को सहेजने की कोशिश की गई है। दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो यह पुस्तक पत्रकारिता के विभिन्न चरणों की अकादमिक और वास्तविक यात्रा को क्रमशः उद्घाटित करती है चाहे वह पुराने अखबारों का काल हो या तकनीक से लैस वर्तमान काल।

न्यू मीडिया के उद्भव के पहले जनसंचार और जनमाध्यमों की जो परिभाषा प्रचलित थी, वह सोशल मीडिया के आने के बाद ध्वस्त ही हो गई। सोशल मीडिया पारंपरिक और औद्योगिक मीडिया से अंतर्वस्तु, गुणवत्ता, पहुंच, तौर-तरीके, तात्कालिकता और प्रस्तुति के मामले में एकदम भिन्न है। अनेक सर्वेक्षणों के मुताबिक आज इंटरनेट और मोबाइल के उपभोक्ता किसी भी अन्य वेबसाइट की तुलना में सबसे ज्यादा समय सोशल साइट्स पर व्यतीत करते हैं। सोशल मीडिया के उभार के बाद सामाजिक, सांगठनिक और व्यक्तिगत संवाद के मौजूदा तरीकों में न सिर्फ़ बदलाव आया है बल्कि नए तरीके भी चलन में आए हैं। इंटरनेट पर मौजूद सूचना के सभी मंच, वेबलॉग्स, सोशल ब्लॉग्स, पॉडकास्ट,

वीडियो, पिक्चर और सोशल बुकमार्किंग आदि नवीन आयाम हैं जो नए तरीके से सामने आए हैं। सोशल मीडिया पर सक्रिय किसी व्यक्ति को किसी सूचना के लिए पैसा भी अपेक्षाकृत कम ही खर्च करना पड़ता है। सोशल मीडिया के जरिए अब एक नए किस्म का समाज बन चुका है, जिसका अब समाजशास्त्रीय अध्ययन तक प्रारंभ हो चुका है। सोशल मीडिया के माध्यम से जनमत-निर्माण भी शुरू हो चुका है। चूंकि सोशल मीडिया पर सक्रिय लोगों की, टेलीविजन चैनलों या अखबारों में कार्यरत लोगों के विपरीत, कोई व्यावसायिक मजबूरियां नहीं होतीं, इसलिए सूचना बांटने का उद्देश्य और मंतव्य दोनों भिन्न होता है। वहां हर व्यक्ति वह कहता है, जो उसे कहना होता है, न कि वैसा कहने की कोई मजबूरी है।

एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि सोशल मीडिया में जवाबदेही किस पर डाली जाएगी? अखबारों या चैनलों में तो हम संपादकों पर प्रकाशित सामग्री का दायित्व डालते हैं, परंतु यहां क्या? एक और प्रश्न, जो यह पुस्तक उठाती है कि लोगों का इस तरह एक-दूसरे से आभासी दुनिया में जुड़ना क्या नए समाज का निर्माण है, या समाज का ही विध्वंस है? इन सवालों के जवाब अभी बहुत बिखरे हुए हैं क्योंकि न्यू मीडिया अभी बहुत नवीन परिघटना ही है और यहां बहुत कुछ अराजक और बिखरा हुआ है लेकिन तमाम तरीके की सीमाओं और बंधनों के पार जाकर बहस-

एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि सोशल मीडिया में जवाबदेही किस पर डाली जाएगी? अखबारों या चैनलों में तो हम संपादकों पर प्रकाशित सामग्री का दायित्व डालते हैं, परंतु यहां क्या? एक और प्रश्न, जो यह पुस्तक उठाती है कि लोगों का इस तरह एक-दूसरे से आभासी दुनिया में जुड़ना क्या नए समाज का निर्माण है, या समाज का ही विध्वंस है?

मुबाहिसे के लिए स्पेस प्रदान करना इसकी खासियत है और शायद यही एक बात है जिसके कारण इसे मीडिया यानी माध्यम कहना सर्वाधिक उपयुक्त लगता है। अभिव्यक्ति के अधिकार का न सिर्फ यहां पूरा लाभ मिलता है बल्कि विकासशील देशों की बात करें, तो अनेक ऐसे नए विमर्शों पर यहां बात होती है, जिन्हें पहले, न जाने किस कारण से, वर्जित माना जाता रहा था। इससे तीसरी दुनिया के देशों के सामाजिक ढांचे पर भी प्रभाव पड़ रहे हैं। अब ये प्रभाव सकारात्मक हैं या नकारात्मक, इसका विश्लेषण आने वाले वक्त का मीडिया-चिंतन ही करेगा।

यहां हैक्टिविज्म जैसे अपेक्षाकृत नए विचारों पर व्यापक विमर्श मौजूद हैं जो मीडिया के शोधार्थियों या विद्यार्थियों के साथ-साथ आम पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी हैं। आदिकाल से लेकर जब तक मुद्रित माध्यम चलन में नहीं आया था, यानी पुर्तगालियों के आगमन तक; तब तक तो संचार के लिए प्रायः श्रुति परंपरा का ही सहारा लिया जाता रहा था। इन श्रुति परंपराओं में लोकमाध्यमों की मदद ली जाती थी। इन लोकमाध्यमों की जो खास विशेषता है, वह यह कि इसके जरिए संचार करने के लिए कोई व्यक्ति पढ़ा-लिखा हो या न हो, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता। जबकि आधुनिक जनमाध्यमों के लिए अकादमिक रूप से बाकायदा साक्षर होने की लगभग अनिवार्यता है। संचार के पारंपरिक और आधुनिक जनमाध्यमों में तात्विक भेद करना हो तो कह सकते हैं कि आधुनिक जनसंचार माध्यमों में सूचना तत्व की प्रधानता है, जबकि पारंपरिक लोकमाध्यमों में ज्ञान तत्व की प्रधानता पायी जाती रही है। पत्रकारिता-जगत के अत्यंत चर्चित आयोग मैकब्राइड आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में माना था कि, ''कोई भी संचार संरचना तब तक पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक उसमें लोकमाध्यमों को समाहित न किया जाए।'' असल में जिस तरीके की मीडिया साक्षरता की जरूरत विकासशील देशों को है, यह पुस्तक अपनी सधी हुई भाषा, प्रस्तुति, वैचारिकी, वर्णन और विश्लेषण के साथ उस दिशा में पाठकों को कुछ आगे जरूर ले जाती है।

प्रकाशकों से निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एक अरसे से 'पुस्तक-वार्ता' का प्रकाशन कर रहा है। हिंदी में प्रकाशित हो रही साहित्यिक पत्रिकाओं में 'पुस्तक-वार्ता' एकलौती पत्रिका है जो कि पूर्ण रूप से पुस्तक समीक्षा विधा को समर्पित है। यह पत्रिका साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकाशित नई पुस्तकों की समीक्षा प्रतिष्ठित आलोचकों - समीक्षकों से करवाकर प्रकाशित करती है और उसे पाठकों तक पहुंचाने के लिए एक सेतु का काम करती है। आप सुधी प्रकाशकों और सभी लेखक बंधुओं से अपनी नई पुस्तकों की दो प्रतियां निम्न पते पर भिजवाने का अनुरोध है-

संपादक 'पुस्तक-वार्ता'
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट- गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

कहानी

संक्रमण के दौर में नए मुहावरों का पता देती कहानियां

निवेदिता

कथाकार

संपर्क :
सी, नागेश्वर विहार अपार्टमेंट, बुद्धा कॉलोनी, बनियर हॉस्पीटो इंडिया, पटना-800001 (बिहार)
मो. 9835029152

गीताश्री को पढ़ते हुए मुझे इस्मत आपा की याद आती है जिनके बारे में लिखते हुए किसी ने कहा था कि इस्मत खुद घर की भेदी साबित हुई। जब स्त्रियों की गोपन दुनिया खुलती है तो तबाही मचती है। शोर उनकी ही दुनिया से ज्यादा उठता है। जिन लड़कियों, औरतों, नौकरानियों और मर्दों के बारे में लिखती, वह सब तो हमारे घर ही का हिस्सा थे। गीताश्री की कहानियों में भी ये औरतें उसके भीतर है और वह उसकी भेदी। उसने औरतों के बारे में प्रचलित मिथक को तोड़ा। औरत को उसने बड़े और रुमानी विचारों के बाहर निकाल कर धरती पर ला पटका । इस मामले में वह पूरी तरह निर्मम है। इसलिए उस पर ये आरोप लगते रहे कि वह देह के बाहर नहीं देखती।

पुस्तक :
डाउनलोड होते हैं सपने
लेखक :
गीताश्री
प्रकाशक :
शिल्पायन, 10295, लेन. वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 151
मूल्य : ₹ 225

गीताश्री की कहानियों का नया संग्रह 'डाउनलोड होते हैं सपने' पढ़ते हुए लगा कि एक स्त्री सीधे मेरे भीतर घुस रही है। उसकी आवाज हजार-हजार स्त्रियों में बदल रही है। सब समवेत स्वर में कह रही हैं मुक्त करो! मुक्त करो! ये कहानियां बेचैन करने वाली है। कहानीकार ना तो किसी नैतिक उंचाई से, ना बौद्धिक दूरी से बोल रही है। वह हिस्सेदार आवाज है जो अपने अनुभवों को दुनिया के अनुभवों से जोड़कर एक विराट कथा की रचना करती है। इस आवाज में निपट आत्मीयता मानवीयता और गर्माहट है। वो पाठकों से सीधे बात करतीं है। हम उनकी आवाज सुन कर इस दुनिया को और उसमें बसी स्त्री को समझ सकते हैं। उनकी कहानियां आम लोगों के दिल के करीब इसलिए है कि वह स्त्री होने की चुनौती को स्वीकार करती है।

गीताश्री को पढ़ते हुए मुझे इस्मत आपा की याद आती है जिनके बारे में लिखते हुए किसी ने कहा था कि इस्मत खुद घर की भेदी साबित हुई। जब स्त्रियों की गोपन दुनिया खुलती है तो तबाही मचती है। शोर उनकी ही दुनिया से ज्यादा उठता है। जिन लड़कियों, औरतों, नौकरानियों और मर्दों के बारे में लिखती, वह सब तो हमारे घर ही का हिस्सा थे। गीताश्री की कहानियों में भी ये औरतें उसके भीतर है और वह उसकी भेदी। उसने औरतों के बारे में प्रचलित मिथक को तोड़ा। औरत को उसने बड़े और रुमानी विचारों के बाहर निकाल कर धरती पर ला पटका । इस मामले में वह पूरी तरह निर्मम है। इसलिए उस पर ये आरोप लगते रहे कि वह देह के बाहर नहीं देखती। गीता कहती हैं कि इस पुरुष सत्ता का पूरा षड्यंत्र स्त्री की देह को लेकर है तो हम स्त्री की देह पर क्यों नहीं लिखें। उसका बुनियादी सरोकार औरत को यौन-वस्तु से अलग एक इनसानी रूप देना है। इस मकसद के लिए जरूरी है कि मर्द के बनाए समाज में औरत के बारे में मर्दों के दृष्टिकोण पर हमला करे।

'डाउनलोड होते हैं सपने' कहानी संग्रह में कुल 12 कहानियां हैं। इन कहानियों के केंद्र में औरतें हैं। ''कोन्हारा घाट'' इस संकलन की सबसे खूबसूरत और संवेदनशील कहानी है। जो विधवा फुआ के जीवन के बहाने पूरा ग्रामीण समाज और उसके भीतर औरत की त्रासदी को उकेरती है।

गीताश्री की कहानी 'कोन्हारा घाट' का पढ़ना कई दृष्टियों से एक यादगार रचना से गुजरने सरीखा है। यह कहानी एक साथ कई सामाजिक परतों को उधेड़ती है। पारंपरिक ग्रामीण सामंती परिवेश में बाल-वधू से विधवा होने की त्रासदी जिस तरह स्त्री की व्यक्तित्वांतरण-कथा में रूपांतरित होती है, वह अत्यंत विश्वस्त और स्वाभाविक कथाभूमि लिए हुए है। कहानी का समूचा ताना-बाना जिस तरह समाज में रचा बसा है वह इसे एक पात्र की कथा से ऊपर उठाकर एक सामाजिक परिघटना में तब्दील कर देता है। उच्च सवर्ण समाज की सामंती संरचना में हवेली में कैद स्त्री होने का दंश बिना किसी चीख-पुकार या उद्घोष के जिस सहज-स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है वह इस कहानी की शक्ति है। अच्छा यह है कि कहानी की फूआ का विधवापन अबोध बच्ची लड्डू की निगाहों से उजागर हुआ है। मर्द सत्ता में रची बसी 'समझदारी' के बरक्स बालिका लड्डू का अबोधपन जिस तरह संपन्न परिवार में विधवा के 'अन्य' होने की स्थिति को उजागर करता है वह गहरा प्रभाव पैदा करता है। फुआ की मांग से दो बार सिंदूर मिटाए जाने का सा दृश्य सवर्ण हिंदू विधवा की पति सापेक्ष त्रासद नियति को ही अनावृत्त करता है।

अंत आते-आते स्त्री जीवन की पूरी बेचारगी विद्रोह में बदल जाती है। 'बाबा ने बेटी के फैले हुए हाथ देखे, कलाई पर नाम-पता लिखा हुआ गोदना गायब था। उस जगह खाल जली हुई, सिकुड़ी हुई गोल-सी दिख रही थी। वह समझ गए कि गौरेया अब

गीताश्री की कहानियों के बारे में वरिष्ठ कथाकार नासिरा शर्मा का बयान उल्लेखनीय है कि 'गीताश्री की कहानियां जिंदगी की कर्टन रेजर की तरह है जो समाज की सच्चाईयों से हमारा सामना कराती हैं।

यहां बसेरा नहीं करेगी। तीनों भाईयों की काया एक साथ ग्राह-सी हरकत में आयी, फुआ उनकी और गज-नेत्रों से देखती हुई दालान की सीढ़ीयां उतर आयी।'

गीताश्री की कहानियों की औरत के सभी रूप पेश करना मुमकिन नहीं है। पर उनकी कहानियों की औरत एक मुक्कमल औरत है और मर्द की तरह एक इनसान। जिसे मर्द रिमोट से संचालित होने वाले खिलौना में बदलना चाहता है। उसकी कहानी की औरत अगर अपनी देह देती है तो उसका फैसला भी वही लेती है। उनकी कहानियों का मकसद यौन कहानियां लिखना या यौन सबंधी गुत्थियां सुलझाना नहीं है ना ही समाज के खिलाफ बगावत के लिए इसे हथियार की तरह इस्तेमाल करना है। वे अपनी बेबाकी और आजाद ख्याल का शोर नहीं करती है। उसे जीती हैं। उनकी कहानियों में इनके अलावा मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पहलू होते हैं। मलाई, बिटवीन द लाइंस, प्रश्न-कुंडली, ब्लाइंड डेट, सी यू, डूबकी, तीन देवियां, वह रात किधर निकल गई, चिथड़े-चिथड़े शून्य समेत 12 कहानियां जीवन के अलग-अलग रंग भरते हैं। 'बिटवीन द लाइंस' इस संग्रह की सबसे कमजोर कहानी है। निर्भया के बहाने स्त्री आजादी, आंदोलन और राजनीति जैसे मुद्दे को समेटने की कोशिश जरूर हुई पर कहानी बन नहीं पाई।

यह कहानी संग्रह उनकी दूसरी कहानियों का ही विस्तार है। सारी कहानियों के मिजाज अलग-अलग हैं पर एक बात जो कहानियों को एक दूसरे से जोड़ती है वह है स्त्री का यथास्थिति से विद्रोह। उसकी कहानियों में नुकीलापन, तेजतर्रारी, शोखी और रफ्तार नजर आती है। आज के पाठक उनकी कहानियों में सीधे उतरते हैं। गीताश्री के कथा-अनुभव जैसे खुद उसके लिए, वैसे ही है जैसे पाठकों के लिए, एक अंदरूनी वारदात की तरह है। उन्होंने उन-उन जगहों को छुआ है जहां कोई कहानीकार आसानी से नहीं जाता। वह जोखिम वाला रास्ता है और वे जाखिम उठाना जानती हैं।

गीताश्री की कहानियों के बारे में वरिष्ठ कथाकार नासिरा शर्मा का बयान उल्लेखनीय है कि 'गीताश्री की कहानियां जिंदगी की कर्टन रेजर की तरह है जो समाज की सच्चाईयों से हमारा सामना कराती हैं। जो कभी अविश्वसनीय लगती हैं, तो कभी कोहरे में छुपे यथार्थ को शॉक का रूप दे बैठती हैं। यहां भाषाई जाल और किस्सागोई के जालो से गुजरते हुए अपनी बात कहने का इसरार नहीं है।'

इस संग्रह को पढ़ते हुए इस बयान की सत्यता का पता चलता है। संग्रह की सारी कहानियों का यथार्थ उस वास्तविकता से टकराता नजर आता है जो हमारे आसपास का सच है। कमाल तो यह है कि ये कहानियां किसी दलदल में डूबने नहीं देतीं, अंत में उबार लेती हैं। कहन पर उनकी पकड़ अच्छी है, शैल्पिक गल्प का अभाव महसूस ही नहीं होता, क्योंकि एक पत्रकार होने के नाते कई हैरत भरे कथात्मक गल्प वे हम तक पहुंचाती हैं।

गीताश्री की कहानियां संक्रमण के इस दौर के नितांत नए मुहावरों का पता देती हैं।

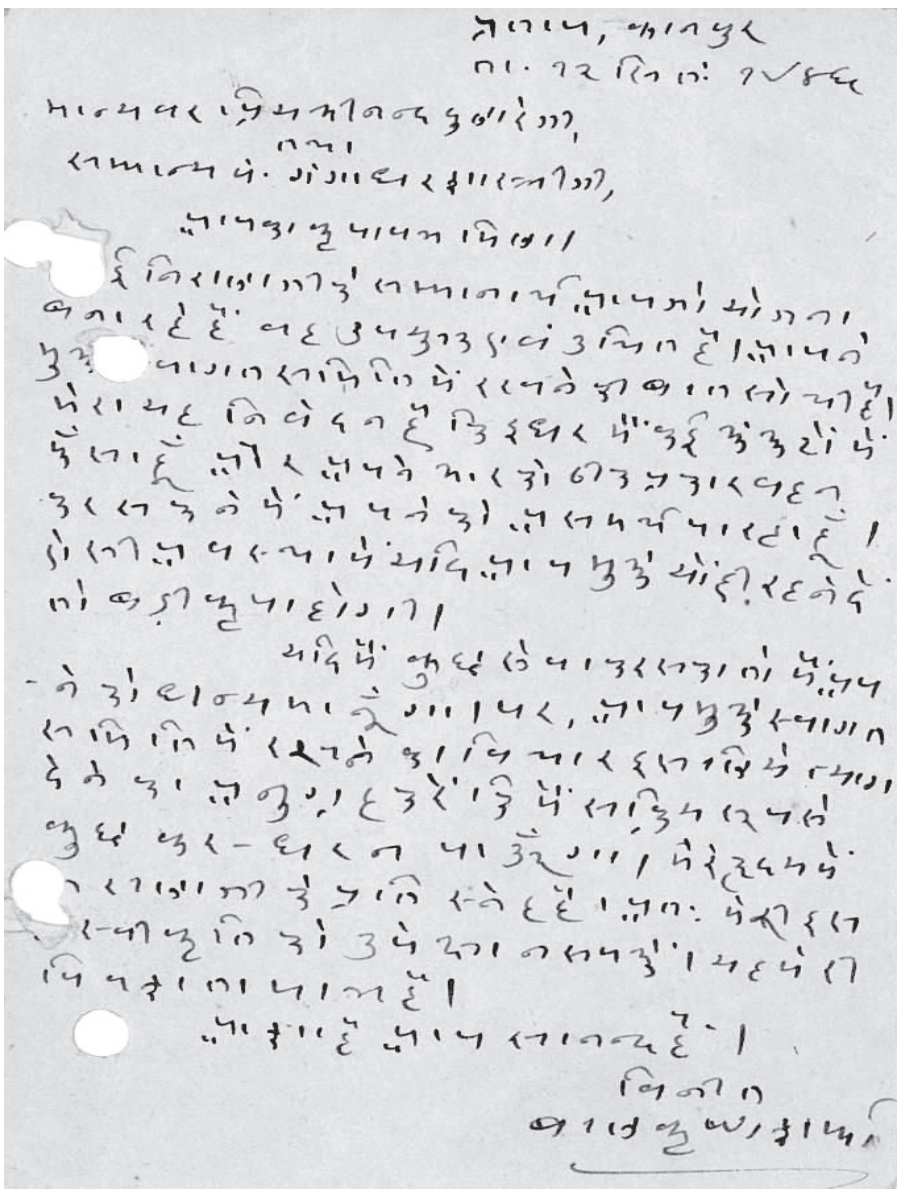

बालकृष्ण शर्मा द्वारा नन्द दुलारे वाजपेयी को लिखा गया पत्र महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में संरक्षित है।

एक लोकगीत यात्रा

अंकित दुबे

शोधार्थी

संपर्क :
पूर्व छात्र भारतीय भाषा केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू
विश्वविद्यालय, नई
दिल्ली-110067
मो. 8287547261

'लोकगीतः पाठ एवं विमर्श' जो सत्य प्रिय पांडेय द्वारा रचित है, अवधी लोक-गीतों की व्याख्या और विमर्श पर आधारित पुस्तक है। इस किताब को पढ़ते हुए एक और दिलचस्प बात की ओर ध्यान जाता है कि जिस पितृसत्ता और सामाजिक श्रेणीबद्धता को गढ़ने, व्याख्यायित करने के लिए मनुस्मृति जैसे ग्रंथों और 'ढोल-गंवार' जैसे वाक्यों के लिए तुलसी निशाने पर आ जाते हैं उन्हीं बातों को दोहराते हुए ये लोकगीत अपने भोलेपन और सहजता के कारण निशाने पर नहीं आ पाते। अनेक देशी लोकोक्तियों, कहावतों और लोकगीतों में ऐसे तत्व भी हैं जो प्रगतिशीलता के विपरीतार्थक हैं। पर ऐसा हमेशा नहीं है, अक्सर इन गीतों से वर्तमान जड़ता के विरुद्ध विद्रोह और समता पर आधारित समाज बनाने का सपना भी झांकता नजर आता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था कि किसी भी देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है। जनता से हमारा आशय किसी भी समाज के चंद सूटेड-बूटेड संभ्रांत लोगों के समूह से नहीं होता। जनता अधनंगी भी हो सकती है। जो लोग बहुत नहीं सोचते और जीवन में राग-रोग, भय-उल्लास और तमाम तरह के भाव-अभाव के बीच हंसते-खेलते जीवन बिताते हैं वो लोग 'जनता' होते हैं। ऐसे में सही अर्थों में उन्हीं की संचित चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब लोकगीत होते हैं। साहित्य एक व्यक्ति लिखता है लेकिन लोकगीतों को चाहे कभी किसी एक व्यक्ति ने रचा हो लेकिन उसे प्राण समूह से मिलता है, जन की संचित चित्तवृत्तियों से मिलता है। साहित्य शिक्षित और सुसंस्कृत वर्ग द्वारा समाज का चित्रण है तो लोकगीतों को किसने लिखा इसका पता किसी को नहीं होता। किसी का कॉपीराईट नहीं, किसी का आधिपत्य नहीं। जनता की चीज, जनता के लिए और जनता के द्वारा भी। एकदम से आधुनिक लोकतंत्र की परिभाषा के मुताबिक। यह समाज के अनुभवों से पैदा होता है और समय के साथ जन के अनुभव इसमें गुंफित होते जाते हैं और यह विकसित होता जाता है। इसका विकास स्वतः स्फूर्त और लोकतांत्रिक होता है। लोकगीत केवल साहित्य नहीं है अपितु आम लोगों के समाज की एक भाषा है जिसमें समय-समय पर वे खुद को व्यक्त करते हैं।

ऐसे ही लोकगीतों की एक किताब -'लोकगीत : पाठ एवं विमर्श' जो सत्य प्रिय पांडेय द्वारा रचित है, को पढ़ा। यह अवधी लोक-गीतों की व्याख्या और विमर्श पर आधारित पुस्तक है। अवधी अर्थात महाकवि तुलसी और मलिक मोहम्मद जायसी की काव्य भाषा। भारत के दो महान महाकाव्यों की भाषा। कहते हैं कि तुलसी और जायसी को मिली महानता इस बात में निहित है कि उन्होंने जीवन के, खासतौर से लोकजीवन के विविध प्रसंगों की व्यापक और सूक्ष्म व्याख्या की थी। ऐसे में अब सवाल ये उठता है कि जिस भाषा में इतने महान कवियों ने लोक का बहुत कुछ काफी पहले ही व्यक्त कर दिया तब उसी भाषा के लोकगीतों के लिए क्या बचता है? ऐसे कौन से प्रसंग हैं जो महाकवियों से रह गए जिनकी अभिव्यक्ति आज अवधी के लोकगीत कर रहे हैं।

जैसा कि हम जानते हैं कि लोकगीत जन के अनुभवों की अभिव्यक्ति हैं। ऐसे में कई बार ये अनुभव बेहद कड़वे और कसैले होते हैं। आज जिन अस्मितामूलक विमर्शों की बात होती है उसके मूल में एक खास तरह की अस्मिता के साथ हुए भेद-भाव और अन्याय की कहानी प्रमुख है। इस किताब के माध्यम से लेखक का ध्येय है कि गीतों से उपजे विमर्शों को पकड़ा जाए। इन गीतों में बाल विवाह है तो बहू पर सास के अत्याचार के रूप में स्त्री द्वारा स्त्री का शोषण भी है। निसंतानों के साथ होने वाला सामाजिक दुराव चित्रित है तो अक्सर इसमें स्त्री के लिए भोजन और वस्त्र के अभाव पर गहरा दुख प्रकट किया गया है। जैसा कि फणीश्वर नाथ रेणु ने अपने लोक को छायावादियों की तरह 'अहा' नहीं कहा और ना ही उसकी जड़ता के लिए दुखी हुए उसी प्रकार प्रस्तुत लेखक ने रेणु की ही तरह लोक-जीवन के फूल और शूल दोनों को रेखांकित किया है। इस किताब को पढ़ते हुए एक और दिलचस्प बात की ओर ध्यान जाता है कि जिस पितृसत्ता और सामाजिक श्रेणीबद्धता को गढ़ने, व्याख्यायित करने के लिए मनुस्मृति जैसे ग्रंथों और 'ढोल-गंवार' जैसे वाक्यों के लिए तुलसी निशाने पर आ जाते हैं उन्हीं बातों को दोहराते हुए ये लोकगीत अपने भोलेपन और सहजता के कारण निशाने पर नहीं आ पाते। अनेक देशी लोकोक्तियों, कहावतों और लोकगीतों में ऐसे तत्व भी हैं जो प्रगतिशीलता के विपरीतार्थक हैं। पर ऐसा हमेशा नहीं है, अक्सर इन गीतों से वर्तमान जड़ता के विरुद्ध विद्रोह और समता पर आधारित समाज बनाने का सपना भी झांकता नजर आता है।

पुस्तक :
लोकगीतः पाठ एवं विमर्श
लेखक :
सत्य प्रिय पांडेय
प्रकाशक :
स्वराज्य प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2017
पृष्ठ : 136
मूल्य : ₹ 350

पुस्तक में इस बात पर खासा ऐतराज किया गया है कि हिंदी के लोक को उसके अंग्रेजी तजुर्मे फोक की तरह अनपढ़-गंवार और असभ्य क्यों समझा जाता है। भारत की आबादी का ज्यादा हिस्सा अब भी गांव में रहता है और औपचारिक शिक्षा में पीछे है। तब भी भारत के इस बहुजन वर्ग की भावना, उसके अनुभवों और गीतों, कहानियों को हल्के में क्यों लिया जाए! भारत को समझना है तो भारत की बहुसंख्यक जनता के इस गीतात्मक साहित्य का अनुसंधान-विमर्श करना होगा। लेखक कहता है कि ''जीवन का ऐसा कोई कोना नहीं है जो इससे अछूता रहा हो। यह श्रम का साहित्य है, संवेदना का साहित्य है, ग्रामीण चेतना का साहित्य है। इसमें नगर नहीं है, यांत्रिकता नहीं है, भौतिकता नहीं है बल्कि ठेठ ग्रामीण जीवन और उसकी सरसता दिखाई देती है।''

हमारे वांड्मय जिस राम को धर्म, न्याय और सुशासन का प्रतीक बताते हैं और उससे कोई प्रश्न नहीं करने का संकल्प लेते हैं, अवधी के रामचरितमानस के उसी राम के कई निर्णयों को उसी अवधी के लोकगीत चुनौती देते हैं। ये बताता है कि जहां सवाल नहीं करने वाला शास्त्र जड़ और चुप हो जाता है वहां प्रश्न करने वाला लोक अपनी गतिशीलता और जिंदा रहने का बार-बार सबूत देता है। वांड्मय की सीता राम के दिए निर्वासन पर अपने धरती में समा जाने के दिन तक कोई सवाल नहीं करती। लेकिन अवधी लोकगीतों की सीता पत्थर की देवी नहीं बल्कि एक आम स्त्री है जो पति के अनुराग पर संदेह करती है और उसे जमकर खरी-खोटी भी सुनाती है -

'तोहरा कहा गुरु मनबै परग दस चलबै
वहिं रे पपिहवा का मुंहवा नाहीं हम देखबै
वहिं रे अजोधिया के बीच परग नाहीं धरबै'

लेखक की इंग्लैंड के स्वच्छंदतावादी कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की इस बात में पूरी सहमति नजर आती है कि तीव्र मनोवेगों का कविता सहज उच्छलन है। लेखक एक और उद्धरण को अपना पूर्ण समर्थन देकर लोकगीतों की महत्ता को स्थापित करने का प्रबल प्रयास करता है कि 'लोककथाएं सभी कथाओं के पिता हैं और लोकगीत सभी तरह के गीतों की मां' आज के व्यक्तिवादी होते समय में ये सामूहिकता का गान हैं लिहाजा ये स्वाभाव में ही उदात्त चरित्र के हो जाते हैं।

लोकगीतों का विभाजन करते हुए इन्हें संस्कार गीत, श्रम गीत, धर्मगीत और कथागीत में श्रेणीबद्ध किया गया है। सोहर, जनेऊ और विवाह के गीत संस्कार गीतों में आते हैं तो जंतसार श्रम का गान है। ये स्त्री जीवन की त्रासदी का गीत तो है ही प्राथमिक रूप से यह लोक में स्त्रियों की सामूहिक आत्मकथा है। पर यहां सिर्फ दर्द-पीड़ा और विद्रोह नहीं है। उल्लास के रंग भी कम नहीं हैं। भींगी हुई कजरी

लेखक सत्य प्रिय पांडेय की इंग्लैंड के स्वच्छंदतावादी कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की इस बात में पूरी सहमति नजर आती है कि तीव्र मनोवेगों का कविता सहज उच्छलन है।

और गुलाल उड़ाता, उमगता-उमगाता फगुआ भी है।

लोकगीतों की कैकेयी राजा बनने से बहुत पहले राम के लिए दशरथ से तभी वनवास मांग लेती है जब वह महज बारह दिन के थे। अवधी लोक कहता है कि 'राम क बन, ककही क अपजस'। कितना बड़ा दिल है लोक का जो अपने नायक को घोर विपत्ति में डालने वाली को भी नियति के हाथों की कठपुतली बता कर क्षमा कर देता है। नियति पर ऐसा भरोसा कि हानि-लाभ यश-अपयश हर चीज को पूर्व निर्धारित मान कर आदमी से, राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है।

विवाह इत्यादि के बंधन संस्कृति के होते हैं। हर दूसरी संस्कृति में यह काम अलग तरीके से होता है। कहीं बहुपत्नी प्रथा है तो कही बहुपति। लेकिन मातृत्व संस्कृति का नहीं बल्कि प्रकृति का मामला है। यह अनुभव सार्वभौमिक है। दुनिया में कहीं भी जाएं मां बनने का समय और अनुभव अलग-अलग नहीं मिलेगा। हर जगह एकरूपता होती है। किताब में इस बात पर बल दिया गया है कि लोक 'संस्कृति' के बदले 'प्रकृति' के करीब होता है। कौशल्या का मातृत्व ही है जिसमें राम के वन जाने की तकलीफ इस बात से खतम हो जाती है कि बेटा चाहे जहां रहे पर अब वह बांझिन तो नहीं कहाएगी ! कैकेयी का मातृत्व भी है जो हमेशा अपने बेटे का हित चाहता है। शास्त्र इस बात को कुछ समय के लिए कैकेयी मतिभ्रष्टता से जोड़ते हैं तो लोक कहता है कि कैकेयी को अपने बेटे के लिए अवध के सिंहासन का सपना उसके जन्म लेने के दिन से ही था ! सांभ्रांत तबका अपने बच्चों को 'इनसान की औलाद है इनसान बनेगा' कहता है तो लोक हमेशा 'मेरा राजा बेटा' कहता है। कैकेयी भी यही कहती हुई दिखाई देती है।

'मचियाहिं बइठीं जे सासू त बेटा से अरज करयं हो
बेटा छोड़ि द पतुरिया क साथ बहुआवा गरभइतिन हो'

विवाहेतर सबंधों का भी जिक्र आता है। कोई भी समाज कितनी भी मर्यादा, कितनी भी नैतिकता पर बना हो लेकिन उसके नहीं टूटने की गारंटी नहीं दे सकता।

एक गीत आता है जिसमें बेटे के लिए शिव पूजती स्त्री को उसकी ननद ताने मार कर कहती है कि वह जितनी भी पूजा कर ले लेकिन बेटा नहीं होगा। आखिरकार बेटा होता है और वही ननद खुशी से नाचती है और भाभी से उपहार में कंगन मांगती है। यही लोक का असली रंग है जो प्रयास के समय जितना असहयोगी रहा हो मगर प्राप्ति को सलाम जरूर करता है। लोक के लोग अपनी 'ईगो' पर अड़े नहीं रहते बल्कि उस ननद की तरह अपना आपा खो कर समाज की खुशी में शामिल हो जाते हैं। रेणु की कहानी 'लाल पान की बेगम' में नायिका बिरजू की मां दिन में जिन लोगों से लड़ती है रात को उन सबके मेला जाने की व्यवस्था भी करती है। लेखक कहता है कि लोक किसी भी भाव में रूकने के विरुद्ध है। वह भारतीय संस्कृति के चरैवेति-चरैवेति को कहीं भीतर तक ले गया है।

पुस्तक के अंतिम आधे से अधिक हिस्से को लेखक ने अवधी के अलग-अलग गीतों की व्याख्याओं से सजाया है। इन गीतों में मर्यादा है तो उसका टूटना भी है। आज्ञाकारिता है तो अवज्ञा भी है। दिल को उदासी से भरने वाले प्रसंग हैं तो चुहल और हंसी-ठिठोली के भी पर्याप्त अवसर आते हैं। कुल मिलाकर एक पठनीय और सुंदर पुस्तक को हम सबके बीच रखते हुए लेखक बेहद ईमानदारी से यह स्वीकार करता है कि उसकी व्याख्या अंतिम नहीं है। आगे अन्य व्याख्याओं की संभावना भी व्यक्त करता है। ठीक उसी अंदाज में जिसमें किसी पश्चिमी विद्वान ने 'डेथ ऑफ दी ऑथर' की स्थापना दी थी कि किताब लिखने के बाद लेखक नहीं रह जाता सिर्फ रचना रह जाती है। लोकगीत तो ऐसे भी किसी की मिल्कियत नहीं रहे। पुस्तक किसी भी समाज की मनःस्थिति को समझने के लिए कुछ ही लोगों द्वारा लिखित साहित्य पर ही निर्भर रह जाने की बजाए बहुसंख्यक वर्ग के अलिखित, लचीले और गतिशील लोकगीतों की ओर गंभीरतापूर्वक विचार करने की मजबूत मांग रखती है।

‘रचना समय’ की मार्खेज पर महत्वपूर्ण प्रस्तुति

अशोक नाथ त्रिपाठी

सहायक प्रोफेसर

संपर्क :
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
म.गां.अं.हिं.वि.
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
मो. 9423645364

बहुवचन

बहुवचन पत्रिका के प्रस्तुत अंक में तीसरा सप्तक के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर कुंवर नारायण और साठोत्तरी कहानी के प्रसिद्ध कहानीकार दूधनाथ सिंह को स्मृति-शेष के रूप में देखने का प्रयास किया गया है। अशोक मिश्र अन्य रचनाकारों की तरह यह स्वीकार करते हैं कि कुंवर नारायण काव्य विधा के लेखक थे लेकिन वह इस बात को भी रेखांकित करना चाहते हैं कि कुंवर नारायण काफी समय तक कहानी, लेख, समीक्षा आदि कर्मों से भी जुड़े रहे हैं। वे दूधनाथ सिंह पर अपनी बात रखते हुए एक तथ्य की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास करते हैं कि दूधनाथ सिंह की कहानियां पहले से भिन्न हुआ करती थी। ‘लोक मन और मिथक’ शीर्षक से राजेंद्र रंजन चतुर्वेदी अपनी बात रखते हैं। मूर्ति और मिथक के वैविध्य विचार करते हुए उनका मानना है कि मूर्ति एक स्थिर रचना है जबकि मिथक जीवन के साथ गतिशील है, साथ है और हर युग का प्रभाव मिथकों पर देखा जा सकता है। उदाहरणों के साथ अपनी बात को पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वैदिक साहित्य का इंद्र वह नहीं है जिसका सिंहासन हिल जाता है, जो विलासिता पूर्ण जिंदगी व्यतीत करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे देवता सिर्फ कथाओं के पात्र नहीं है वह सृष्टि और प्रलय तथा प्रकृति और जीवन की व्याख्या भी हैं। वे यह भी मानते हैं कि लोक मन अपने विश्व दृष्टि को मिथकों के रूप में संजोया है। अजीत कुमार पर निर्मला जैन ने विचार व्यक्त किया है। वह अपने आलेख ‘सहज व्यक्तित्व अजीत कुमार’ में उनके व्यक्तिगत जीवन को दिखाते हुए उनके सामाजिक सरोकारों को देखने-समझने का प्रयास किया है। इस आलेख में उनके कई विशेषताओं को रेखांकित करते हुए अपनी बात आगे बढ़ाती हैं। मसलन अजीत कुमार मितव्ययी थे, महत्वाकांक्षा नाम की वस्तु उनके जीवन में नहीं के बराबर थी। अजीत कुमार के व्यक्तिगत जीवन की सबसे बड़ी बात यह है कि रचना कर्म में किसी प्रकार की कोई उद्विग्नता नहीं थी। अपने इसी आलेख के माध्यम से निर्मला जी यह बताना चाहती हैं कि अजीत कुमार का जीवन जिस प्रकार से सहज था उनका लेखन भी उसी सहजता का उदाहरण था। राधेश्याम तिवारी ने अपने समय के चर्चित व्यक्तित्व कुंवर नारायण पर विचार रखते हुए अपने आलेख का शीर्षक दिया है ‘कुंवर नारायणः अपने को गहरी नींद में सोए हुए देखना’। इस आलेख में वे कुंवर नारायण को नई कविता आंदोलन के अग्रणी कवि के रूप में स्वीकार करते हैं। कुंवर नारायण की प्रसिद्ध संग्रह पर विचार करते हुए इस ओर इशारा करना चाहते हैं कि ‘आत्मजयी’ में नचिकेता प्रसंग के बहाने वे नई पीढ़ी से पुरानी पीढ़ी के सामने सवाल खड़ा करते हैं। कुंवर नारायण उन विडंबनाओं से टकराने वाले कवि हैं जो विडंबनाएं समाज को धर्म और परंपरा के नाम पर लगातार दिग्भ्रमित करती रही

हैं। अनुपम मिश्र के अवदान पर जयशंकर ने अपने आलेख ‘एक असाधारण जीवन का जाना’ शीर्षक से टिप्पणी के बहाने अपनी बात कहते हैं। इस आलेख में वे इस बात का विशेष उल्लेख करना चाहते हैं कि अनुपम मिश्र पर्यावरणीय चिंता के सजग रचनाकार हैं। इस आलेख में वे अनुपम मिश्र की तमाम चिंताओं को जिसमें पर्यावरण संतुलन आदि शामिल है, का जिक्र करते हैं। रूपेश कुमार सिंह ने दूधनाथ सिंह पर विचार करते हुए अपने आलेख का शीर्षक दिया है ‘ध्वंस और निर्माण का लेखक दूधनाथ सिंह’। इस आलेख में दूधनाथ सिंह के उनके निजी सरोकारों के साथ उनके साहित्यिक अवदान का संक्षिप्त विवेचन किया है। रूपेश कुमार सिंह अपने आलेख में मानते हैं कि दूधनाथ सिंह अपने कर्म और व्यवहार में तो कठोर थे लेकिन भीतर से अत्यंत संवेदनशील भी थे। तंकमणि अम्मा ने ‘आचार्य नायर अद्भुत रचनाकार’ शीर्षक के बहाने अपनी बात रखती हैं। उनका मानना है कि रमन नायर की रचनाधर्मिता बहुआयामी रही है। रमन नायर मलयालम साहित्य उत्कृष्ट साहित्यकार के साथ ही साथ अपने अनुवाद और काव्य शास्त्रीय चिंतन के माध्यम से साहित्य को समृद्ध किया है। मलयालम में कविता नाटक के साथ-साथ अरस्तू के काव्यशास्त्र पर भी उन्होंने विचार किया है। ‘सागर की गलियां’ उनका महत्वपूर्ण उपन्यास है। होरस के ग्रंथ का अनुवाद भी उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अष्टभुजा शुक्ल हिंदी के चर्चित कवियों में है। इस अंक में उनका रोचक यात्रा वृतांत ‘लघु भारत मारीशस से लौटकर’ दिया गया है। जयप्रकाश मानस की डायरी ‘तारों ने ना कभी भूगोल बदला है ना कभी इतिहास’, मजीद अहमद का संस्मरण ‘महीप सिंह होने का अर्थ’ कथेतर साहित्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। संगर्ता के तौर पर देखा जाए तो एक तरफ पुण्य स्मरण के बहाने साहित्यकारों के अवदान को रेखांकित किया गया है वहीं दूसरी तरफ कविता, कहानी, कथेतर गद्य के तमाम बेहतरीन साहित्यिक नमूनों के साथ अंक का संयोजन किया गया है। अच्छे अंक संयोजन हेतु संपादक बधाई के हकदार हैं।

रचना समय

भोपाल से प्रकाशित रचना समय पत्रिका अपने विदेशी साहित्यकारों पर केंद्रित विशेषांकों की वजह से हमेशा साहित्यिक हलचल के केंद्र में रही है। कुछ समय पूर्व चेखव और फूको पर प्रकाशित विशेषांक काफी सराहे गए थे। इस अंक को भी उसी श्रृंखला की अगली कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। आलोच्य अंक को बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध लेखक 'ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज' पर केंद्रित किया गया। अपने संपादकीय में हरि भटनागर ने ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज की रचना प्रक्रिया के कई बारीक बातों की ओर इशारा करते हुए यह बताना चाहते हैं कि ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज का लेखन कार्य पत्रकारिता से शुरू हुआ था कालांतर वे एक बड़े कथाकार के रूप में अपने को सिद्ध किया। इसी क्रम में वे इस बात की ओर भी इशारा करते हैं कि इसकी तमाम कहानियों का जन्म 'मोकंडो' नामक एक काल्पनिक शहर में होता है, उन्होंने ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज की सकारात्मक दृष्टि पर विचार करते हुए इस बात को रेखांकित करना चाहते हैं। नोबल पुरस्कार के अवसर पर ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज द्वारा दिया गया व्याख्यान इस अंक की विशिष्ट सामग्री के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसमें वे कहना चाहते हैं कि चाहे प्राकृतिक महामारी हो या युद्ध की विभीषिका इनमें से कोई भी जिंदगी की हैसियत को कम नहीं कर सका तथा इस बात की ओर भी इशारा किया है कि मृत्यु की तुलना में करीब साढ़े सात करोड़ अधिक लोग पैदा होते हैं। इस इस अंक में ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज की रचनाधर्मिता और संवाद के माध्यम से कई महत्वपूर्ण प्रसंगों को सामने लाने का प्रयास किया गया है। अंक में ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज के कई साक्षात्कार दिए गए हैं। अपुलेयो मेंडोजा से संवाद के दौरान ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज ने यह स्वीकार किया है कि उनके पिता थोड़े संकीर्ण विचार रखते थे लेकिन उनके दादा जी स्वतंत्रचेत्ता थे और उन्हीं के विचारों ने उन्हें प्रभावित किया। यहीं वे यह स्वीकार करते हैं कि 'मेरे परिवार ने मुझे स्थापित प्रणाली को कायम रखने के बजाय विद्रोह के प्रति प्रभावित किया'। कई बार कोई बड़ा लेखक जब कोई कार्य करता है तो उसके पीछे कोई सिद्धांत नहीं होता वरन वह खुद ही सिद्धांत का निर्माता भी हो जाता है ऐसा ही कुछ-कुछ ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज के साथ भी हुआ। जीन. एच. बेल विलाडा को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने यह स्वीकार किया कि 'मेरी साहित्यिक पृष्ठभूमि मूल रूप से कविता में थी, लेकिन बुरी कविता थी, क्योंकि केवल बुरी कविता के माध्यम से ही आप अच्छी कविता लिख सकते हैं'। ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज के साक्षात्कार से उनके तमाम पहलुओं को जाना जा सकता है। उन्होंने न सिर्फ उपन्यास और कहानियां लिखी वरन साहित्य के कथेतर पक्ष को भी अपने लेखनी का अंग बनाया, उसी का एक उदाहरण है उनका प्रसिद्ध संस्मरण जिसका शीर्षक है 'फिदेल कास्त्रो का एक निजी शब्द चित्र', जिसमें बड़े रोचक ढंग से

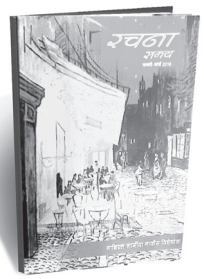

वे बताते हैं कि कास्त्रो काफी लंबी बातचीत करने के अभ्यस्त रहे हैं। सामान्य बातचीत में भी उन्हें कम से कम तीन घंटे तो लगते ही थे। उनका मानना है कि कास्त्रो अपने ऑफिस में बंधे अकादमिक लीडर की तरह नहीं हैं। उनके स्वभाव की एक खासियत यह है कि वे समस्याओं को वहीं निपटारा कर देना चाहते हैं। इस अंक में पाठकों को ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज की 'एक अद्भुत दोपहर', 'मंगलवार की नींद', 'कृत्रिम गुलाब', 'दुनिया का सबसे खूबसूरत डूबा आदमी', 'विकराल डैनेवाला एक बहत बूढा आदमी', 'कर्नल को कई खत नहीं लिखता', 'पूर्व घोषित मृत्यु का रोजनामचा' तथा 'ऐसे ही दिन' जैसी रोचक कहानियां पाठकों को रूझाती हैं। रचना समय के इस अंक में ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज के बेहतरीन कहानियों के नमूने पढ़ने के लिए मिल सकते हैं। कई बार अपनी रचनाओं में लेखक ऐसे पात्रों का सृजन करता है जिन पात्रों के माध्यम से समय और समाज के वितान को पाठक गहराई से समझ सकता है। 'एकांत के सौ वर्ष' का एक ऐसा ही पात्र है 'उसुर्ला'। अनिल मिश्र उस पात्र के बहाने अपनी बात कहते हैं, जिसका शीर्षक है 'उसुर्ला रौशन ख्यालों की बेमिसाल जिंदगी' जिसमें वह एक ऐसी स्त्री पात्र है जो पति की अजीबोगरीब हरकत को सही दिशा देने का कार्य करती हैं। 'जन की विलक्षणतम आकांक्षाओं के जादुई पैरवीकार ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज' शीर्षक से जितेंद्र भाटिया अपने विचार रखते हुए कहना चाहते हैं ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज का लेखन पिछली सदी के गद्य साहित्य के अंधेरे को दूर करने में काफी सराहनीय कार्य किया है। जिस समय सभी के अंत की बात की जा रही थी उस समय उपन्यास के अंत की भी घोषणा की गई थी लेकिन मिलन कुंदेरा के हवाले जितेंद्र भाटिया इस बात को रखते हैं कि जब तक साहित्यिक जगत में 'हंड्रेड ईयर्स ऑफ सालीट्यूड' जैसी रचनाएं हैं तब तक उपन्यास के अंत के बारे में विचार करना ही निरर्थक है। जादुई यथार्थ नाम पर विचार करते हुए भाटिया बताते हैं कि यह पहले कला आंदोलन की शैली था। कालांतर में इस शैली के माध्यम से कई लातिन अमेरिकी लेखक की पहचान सामने आई। इस आलेख में जितेंद्र भाटिया ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज के लेखन के कई पहलुओं को सामने रखने का प्रयास करते हैं। गोपाल प्रधान अपने लेख 'लैटिन अमेरिकी साहित्य का गौरव' में यह बताना चाहते हैं कि ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज के उपन्यास 'सौ सालों का एकांत'में समूचे जादुई यथार्थवाद की स्थिति दिखाई पड़ती है। गोपाल प्रधान इस बात को भी रेखांकित करना चाहते हैं 'जब एक गरीब देश का लेखक जिस समय लोकतंत्र के पक्ष में खड़ा होकर जनता के दुर्भाग्य का चित्रण कर रहा था उसी समय हिंदी के कथाकार रेशमी भाषा में मध्यवर्ग का दुखड़ा क्यों रो रहे थे। वे इस बात को भी रेखांकित करना चाहते हैं कि पाब्लो नेरूदा को देखें तो हम इस तथ्य को इनकार नहीं कर सकते कि जिसे हम जादुई यथार्थ कह रहे हैं वह दरअसल लैटिन अमेरिका का यथार्थ ही है। इसमें महाकाव्यीय गुण की तरफदारी करते हुए गोपाल प्रधान कहते हैं 'यह उपन्यास दीर्घ काल तक टिकने वाले नशा जैसा है'। इस उपन्यास के बहाने वह यह बताना चाहते हैं कि यह उपन्यास लोकतांत्रिक और नियंत्रणकारी छतों की टकराहट का भव्य चित्र प्रस्तुत करता है। हर बड़ा साहित्यकार अपने साहित्य में प्रवेश के कुछ बिंदु बनाए रखता है। ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज ने भी जादुई घटनाओं की मौजूदगी का पर्दा लगा रखा है। दरअसल किसी रचनाकार को चाहे वह ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज ही क्यों न हों, समझने के लिए पाठकों को परदे के पार जाकर सोचना पड़ेगा अगर पाठक ऐसा नहीं कर सकता है तो ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज जैसे लेखक को समझ पाना बेहद कठिन है। शिवप्रसाद जोशी ने अपने आलेख 'ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज-समयहीन समय का जादूगर' शीर्षक से अपनी बात रखते हुए ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज की कई रचनाओं की चर्चा करते हैं। समग्रता में देखा जाय तो ग्रैबिएल गार्सिया मार्खेज पर इतनी विस्तृत सामग्री एक साथ संकलित करना काफी जटिल और श्रमशील कार्य था जिसे हरि भटनागर और उनके अनुवादकों ने बखूबी संपन्न किया। अनुवाद में कहीं-कहीं भेद है फिर भी अनुवाद बहुत बोझिल नहीं लगता। हरि भटनागर स्वयं में एक सजग रचनाकार है उन्होंने इस अंक का संयोजन जिस कुशलता से किया है, उस हेतु वे बधाई के हकदार हैं।

भाषा भारती

राजभाषा विभाग डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर द्वारा प्रकाशित भाषा भारती पांच वर्षों से लगातार प्रकाशित होने वाली पत्रिका है। 'संस्कृति का अधिष्ठान है भाषा' शीर्षक संपादकीय के माध्यम से छविल कुमार मेहेर अपनी बात प्रारंभ करते हैं। उनका मानना है कि भाषा अपने सोपानों के माध्यम से सभ्यता को स्थापित और समृद्ध करती है। वह संपादकीय में यह चिंता भी व्यक्त करते हैं कि हिंदी को गायब करने का जोरदार प्रयास चल रहा है।

दर्शन शास्त्र के गंभीर अध्येता अंबिकादत्त शर्मा ने अपने आलेख 'भारत का सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध' में कई गूढ़ सवालों से टकराने की कोशिश करते हैं। उनका मानना है कि सन सैंतालिस में तो हम औपनिवेशिक

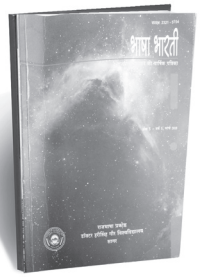

प्राधिकरण से मुक्त हो गए लेकिन यूरोपीयकरण से अंगीभूत ही रहे। वर्तमान में भारत तो किसी भी विदेशी शासन के अधीन नहीं है लेकिन अभी भी अपने लोकव्यवहार में वह यूरोपीय मानसिकता का परित्याग नहीं कर सका है। शर्मा जी का यह मानना है कि हमें औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण के अर्थ को अलग-अलग समझना होगा। उनका मानना है कि 'औपनिवेशीकरण एक राजनीतिक प्रक्रिया है और उसका लक्ष्य साम्राज्य विस्तार के लिए परोक्ष-अपरोक्ष तरीकों से राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करना होता है, परंतु यूरोपीयकरण अपने आप में अधिक व्यापक एक सांस्कृतिक-साभ्यतिक प्रक्रिया है'। उनका यह मानना है कि हमारी सभ्यता 'आनो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः' के रूप में उनके कौतूहल का विषय बनी हुई है। शर्मा जी के आलेख के माध्यम से भारतीय संस्कृति के गूढ़ तत्वों को सहज ढंग से समझा जा सकता है। भाषा एवं साहित्य के गंभीर चिंतक पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने 'भाषा, हिंदी भाषा और भाषा विज्ञान के सुधी भारतीय चिंतक : आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा' शीर्षक आलेख के बहाने आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा पर विचार करते हैं। अपने आलेख में वह मानते हैं कि आचार्य देवेंद्रनाथ के अंदर भाषाविज्ञान की अवधारणा के साथ एककालिक और बहुकालिक पहचान भी थी। चूंकि वे अनेक भाषाओं के जानकार थे इसलिए भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों भाषाओं पर उनका न सिर्फ सामान अधिकार था अपितु वे नियमों के ज्ञाता भी थे। शीतांशु जी ने अपने आलेख के माध्यम से आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा के भाषा संबंधी चिंतन को कई आयामों से विवेचित विश्लेषित करते हुए उन्हें हिंदी भाषा और भाषाचिंतन का ब्रांड एंबेसडर स्वीकार किया है। आर.बी. भंडारकर अपने आलेख 'भाषा, हिंदी और हम' शीर्षक से अपनी बात कहते हैं। उनका मानना है कि भावाभिव्यक्ति अनेक माध्यमों में सबसे सशक्त माध्यम भाषा है।

भंडारकर ने अपने आलेख में इस तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास किया है कि 'इसमें कोई शक नहीं है कि भाषा और साहित्य की दृष्टि से हम समृद्धशाली होते हुए भी गुलामी के कारण भाषा को पीछे कर दिया है। देखा जाए तो भाषा साहित्य में और लोक में सम्मान पाती रही परंतु शासन के स्तर पर पिछड़ गई'। इसी आलेख में वह हिंदी को अत्यंत सम्मान की दृष्टि से देखते हुए उसे संस्कृति, अस्मिता और पहचान से जोड़ा है। कृष्णदत्त पालीवाल के आलेख 'भारतीय भाषाओं में संस्कृत का अवदान' में कई महत्वपूर्ण तथ्यों को सामने लाने का प्रयास किया गया है। पालीवाल अपने आलेख में जातीय संस्कृति और जातीय अस्मिता के बहाने सांस्कृतिक परंपराओं के प्रवाह पर बल देते हैं। वह ऋग्वेद, गीता, महाभारत एवं अन्य पुराणों के माध्यम से इस बात को पुष्ट करते हैं कि भारतीय भाषाओं के साहित्य को संस्कृत साहित्य ने काफी कुछ दिया है। प्रसाद के साहित्य चिंतन पर विजय बहादुर सिंह ने महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए कहा है कि 'प्रसाद जैसे लेखक हमारे यहां प्रकाश स्तंभ बन सकते हैं'। उनके आलेख के माध्यम से प्रसाद साहित्य के कई महत्वपूर्ण बिंदुओं को देखा-समझा जा सकता है। रमेश दवे ने मुक्तिबोध पर विचार करते हुए 'मुक्तिबोध : शताब्दी स्मृति और फैंटेसी' शीर्षक से अपनी बात कहते हैं। इस आलेख में मुक्तिबोध के साहित्य में फैंटेसी के कई रूपों पर विचार किया गया है। छबिल कुमार मेहेर ने 'साहित्यानुवाद : अनुकृति या अनुसृजन' शीर्षक से अपनी बात रखते हैं। वे यह मानते हैं कि सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद विवादग्रस्त रहा है। कुछ उदाहरणों से वे साहित्यिक अनुवाद को देखने का प्रयास करते हैं। उनके आलेख में नाटक, निबंध, कथा साहित्य एवं कविता आदि के अनुवाद की समस्याओं और उसके सार्थक समाधान की ओर इशारा किया गया है। समग्रता में देखा जाए तो छबील कुमार मेहेर के व्यक्तित्व में जिस प्रकार से साहित्य विवेक है उसी प्रकार से संपादन कौशल भी है। भाषा भारती के इस अंक को उन्होंने भाषा साहित्य और अनुवाद की त्रिवेणी के रूप में संयोजित किया है, इस हेतु बधाई के पात्र हैं।

वैश्विक साहित्य

'वैश्विक साहित्य' का प्रकाशन लगातार छः वर्षों से बुंदेलखंड की उस धरती से किया गया है जो कभी वृंदावनलाल वर्मा की कर्मभूमि रही है। यह सुखद संयोग भी है कि इस अंक को वृंदावनलाल वर्मा पर केंद्रित करने का सार्थक प्रयास किया गया है। प्रमोद कुमार अग्रवाल अपने संपादकीय 'वृंदावनलाल वर्मा: बुंदेलखंड की सांस्कृतिक धरोहर के पुरोधा' में यह मानते हैं कि वृंदावन लाल वर्मा का लेखन एक प्रकार से बुंदेलखंड की संस्कृति का परिचायक है। यदि हम उनके उपन्यासों का अवगाहन करें तो वहां बुंदेलखंड की बहुरंगी छटा के साथ-साथ वहां का वैभवशाली इतिहास झांकता दिखाई पड़ता है। वे पानी संपादकीय के बहाने यह कहना चाहते हैं कि वृंदावनलाल वर्मा को हिंदी का वाल्टर स्काट कहा जाता है जिस प्रकार वाल्टर स्काट ने अपनी रचनाओं में लघु देश स्कॉटलैंड का उल्लेख किया है उसी प्रकार वर्मा की रचनाओं में बुंदेलखंड का इतिहास और वहां की संस्कृति की झांकी मिलती है। वर्मा जी के उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' में लक्ष्मी बाई के संघर्ष, रणकौशल का सम्यक चित्रण मिलता है। वृंदावनलाल वर्मा के

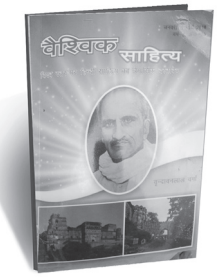

परिवार से बातचीत में उनके दैनंदिन जीवन के बारे में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस अंक में वृंदावनलाल वर्मा की 'भ्रांत पथिक' दी गई है, जिसमें वे कहते हैं 'चतुर्दिक भूमि कंटकाकीर्ण अंधेरा छाया था सब ओर/ मार्ग के चिह्न हुए थे लुप्त, घटा घुमड़ी थी नभ में घोर। रामकिशोर शर्मा के यात्रा वृतांत की प्रथम किश्त 'थाई की धरती पर' रोचक है। 'भारतेंदु के नाटकों में नवजागरण की अलख' शीर्षक आलेख में हौसिला प्रसाद सिंह यह बताना चाहते हैं कि 1783 में अमेरिकी स्वाधीनता और राष्ट्रीय एकता का संघर्ष ने भारतेंदु काफी प्रभावित किया। अपने आलेख में वे यह स्वीकार करते हैं कि 'भारत दुर्दशा' नाटक भारत की जातीय संवेदना के विघटनकारी स्वरूप को यथार्थ रूप में चित्रित करता है। उदय प्रताप सिंह ने 'सामाजिक समरसता में संत साहित्य का योगदान', में इस बात को रेखांकित किया कि उनका 'अनभै सांचा' ही उनकी साधना का आधार है। चांलोङ सारबदनूक ने 'थाईलैंड में हिंदी भाषा' शीर्षक से अपनी बात रखते हुए यह बताना चाहते हैं कि थाईलैंड में हिंदी का प्रचलन लगातार बढ़ रहा है। समग्रता में देखा जाए तो वृंदावनलाल वर्मा के बहाने संपादक प्रमोद कुमार अग्रवाल ने अन्य साहित्यिक बिंदुओं पर भी अच्छी सामग्री दी है, इसके लिए वे बधाई के हकदार हैं।

संदर्भित पत्रिकाएं

1.बहुवचन (जनवरी-मार्च, 2018).सं. अशोक मिश्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) मूल्य ₹ 75/-

2. रचना समय (मार्खेज विशेषांक). सं. हरि भटनागर, 197 सेक्टर-बी, सर्वधर्म कालोनी, कोलार रोड, भोपाल-462042(म.प्र.), मूल्य ₹100/-

3. भाषा भारती (मार्च 2018). सं. छबिल कुमार मेहेर, राजभाषा प्रकोष्ठ डॉक्टर हरीसिंह गौर विवि, सागर 470003 (म.प्र.), मूल्य ₹ 50/-

4. वैश्विक साहित्य (जनवरी-मार्च, 2018). सं. प्रमोद कुमार अग्रवाल, वैश्विक साहित्य, 105 चौक बाजार बरुआ सागर, जिला-झांसी-282201 (उ.प्र.)

लेखकों के हजारों पत्रों में है उनकी जिंदगी और तत्कालीन समय

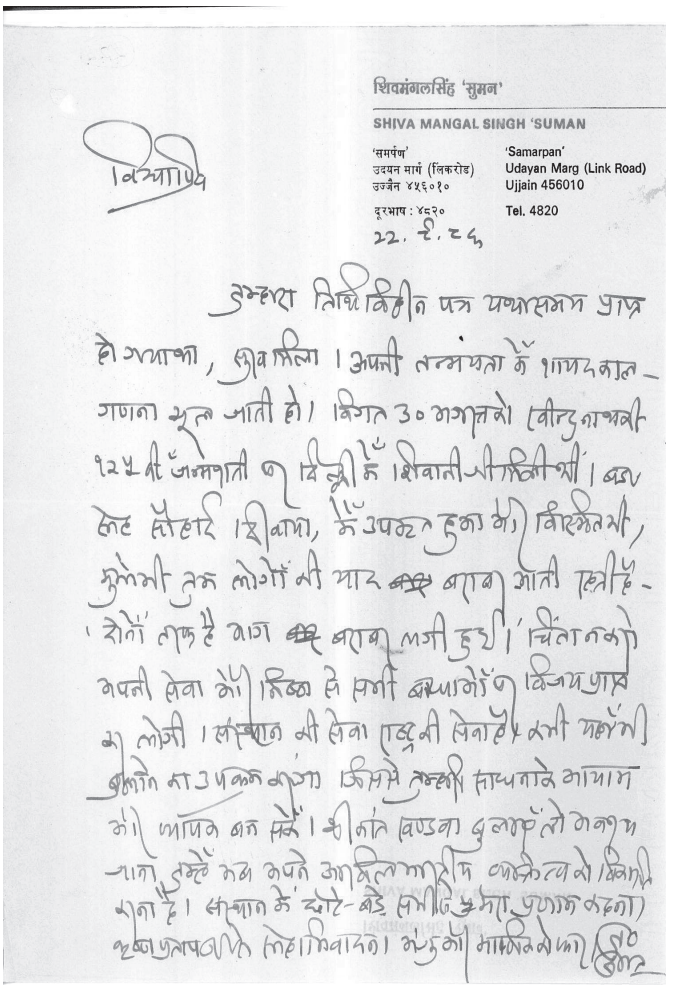

शिवमंगलसिंह 'सुमन'
SHIVA MANGAL SINGH 'SUMAN'
'समर्पण' उदयन मार्ग (लिंकरोड) उज्जैन ४५६०१०
'Samarpan' Udayan Marg (Link Road) Ujjain 456010
दूरभाष : ४८२०
Tel. 4820
22. 8. 64

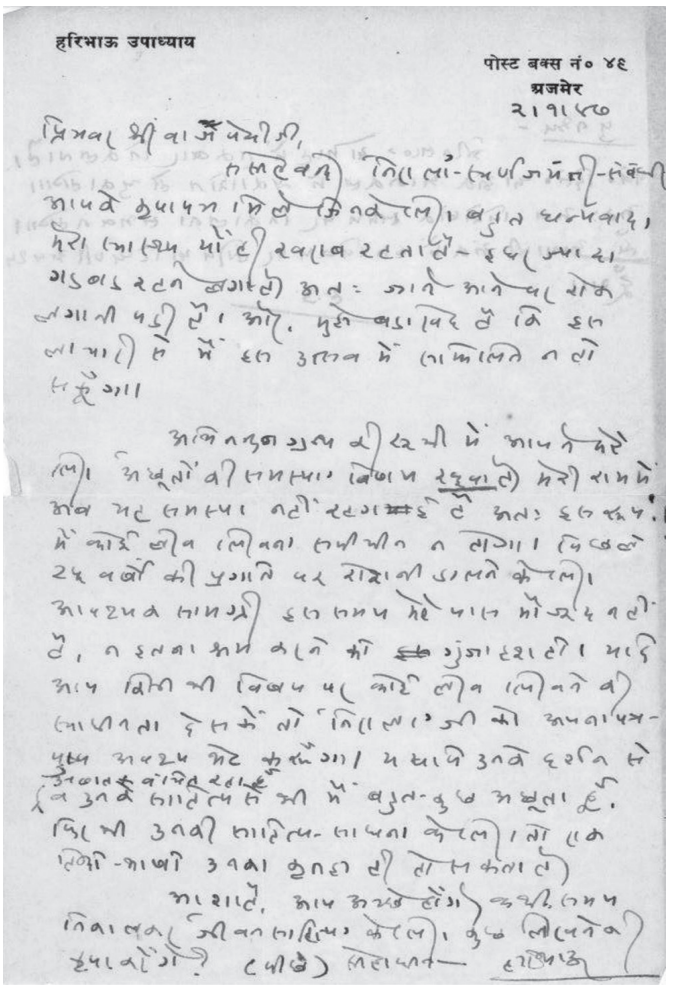

हरिभाऊ उपाध्याय
पोस्ट बक्स नं० ४६
अजमेर
२.१.५८

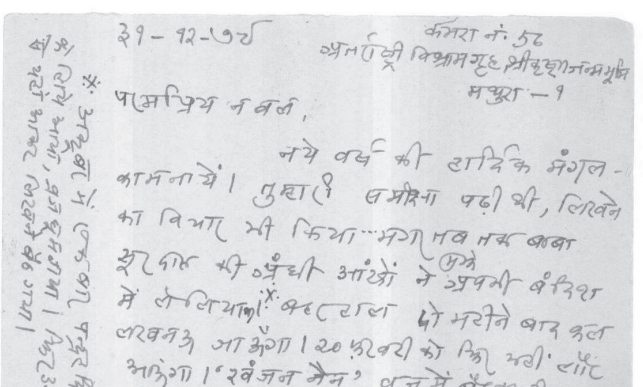

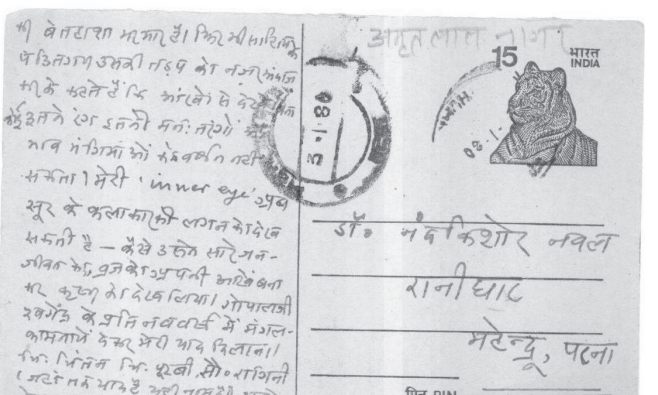

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय में संरक्षित दुर्लभ पत्र

पत्रिकाओं के प्रवेशांक

इस तरह शुरू हुई थीं ये ऐतिहासिक पत्रिकाएँ

कल्पना (सं. आर्येंद शर्मा) सन् 1949

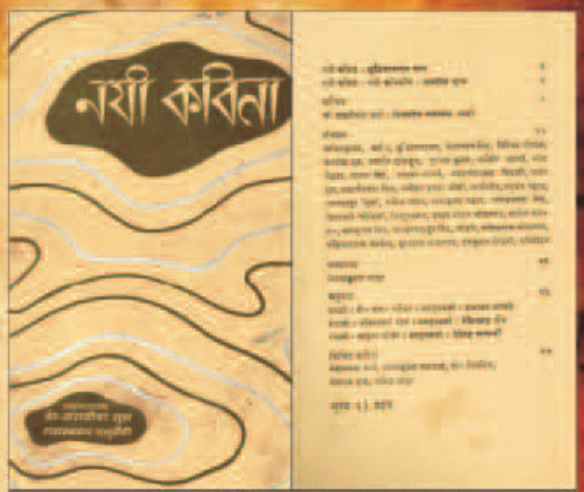

नयी कविता (सं. जगदीश गुप्त) सन् 1964

समय (सं. वेदनन्दन) सन् 1966

दस्तावेज (सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) सन् 1978

नान्दी (सं. विद्यानिवास मिश्र) सन् 1987

कथा दशक (सं. सतीश जमाली) सन् 1989

उक्त पत्रिकाओं के प्रवेशांक स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

ज्ञान शांति मैत्री

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

सदस्यता आवेदन पत्र

'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 400 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 370 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगें। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

बैंक ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा' के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. 07152-232943

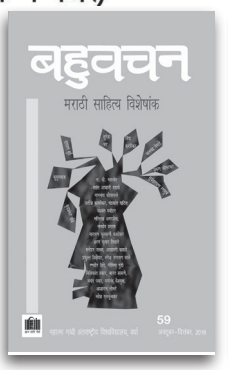

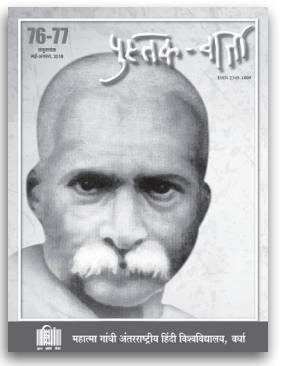

Bank Details for Online Payment :
Name: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name: **Bank of India, Wardha** Account No.: **972110210000005**
IFSC Code No.: **BKID0009721** MICR Code No.: **442013003**

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता पत्रिका के अंक ..... से ..... के लिए

रुपये ..... का बैंक ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक .....

संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भेजे :-

नाम : .....

पता : .....

दूरभाष : ..... ई-मेल : .....

दिनांक : .....

(सदस्य के हस्ताक्षर)

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

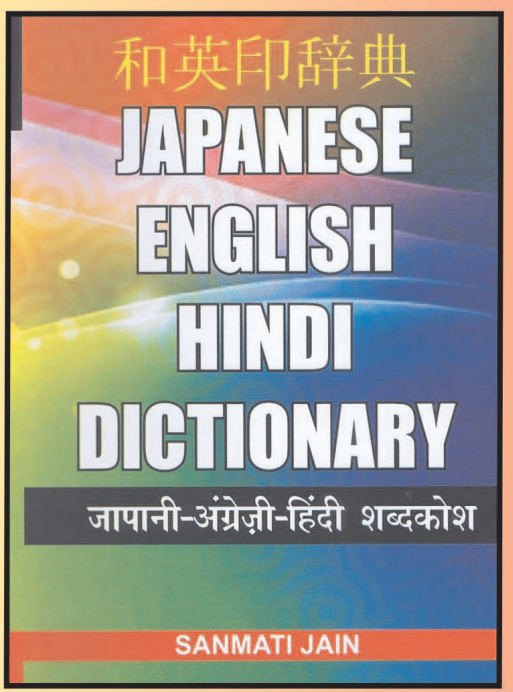

मूल्य : 595

मूल्य : 550

मूल्य : 1750

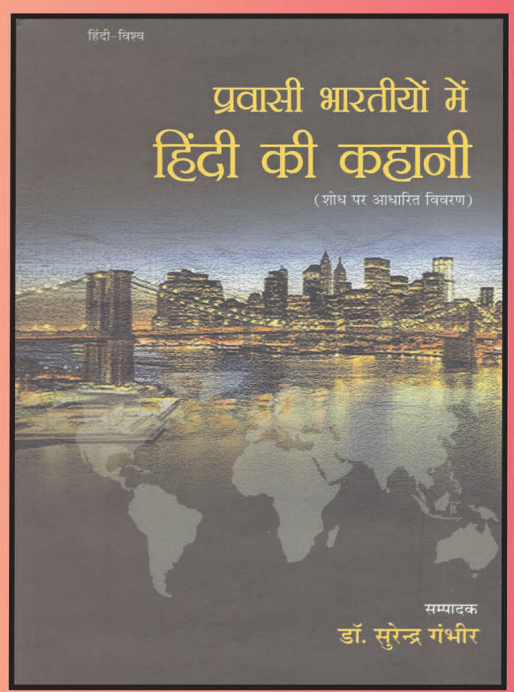

मूल्य : 400

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य, नाटक, निबंध, आलोचना, विमर्श, बाल साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, सिनेमा, विविध, खोज कोश, समय-संचयन, आडियो/विडियो, अनुवाद, हमारे रचनाकार, हिंदी लेखक, संपर्क, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, ब्लॉग समय

ज्ञान शांति मैत्री

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ :

विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रकाशन

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
गांधी हिल्स, पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत
फ़ोन : (07152) 232943, फ़ेक्स : (07152) 230903
वेबसाइट : www.hindivishwa.org